

मुख्य परीक्षा विशेषांक भाग -2

TheCOREIAS

(Initiative of gshindi.com)

PAPER II

CALL/WHATSAPP/TELEGRAM

+918800141518

प्रारंभिक परीक्षा 2018 सम्पन्न हो चुकी है ,आप सभी का ध्यान अब मुख्य परीक्षा पर केन्द्रित होगा |आप के मुख्य परीक्षा में समाचार पत्रों में आने वाले सम्पादकीय अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है |पर कई बार समस्या यह उत्पन्न होती है की अलग अलग अखबारों से इन सम्पादकीय खंड को कैसे पढा जाये और उनका किस स्तर पर संकलन किया जाये |मुख्य परीक्षा में अलग अलग पेपर में हमे अलग अलग विचार को प्रश्रगत दर्शाना होता है ,जिसकी विस्तृत विवेचना हम "उत्तर लेखन " की कक्षा में करते है |आप सभी के लिए यह कतई संभव नहीं है की इन सभी सम्पादकीय को अलग अलग समाचार पत्रों से दिन प्रतिदिन पढा जाये और उसका संकलन किया जा सके | हमने इन बातों को समझा और THE CORE IAS टीम द्वारा पुरे एक वर्ष के उन सम्पादकीय का संकलन किया गया है जो परीक्षा में आपके विचारों और ज्ञान को पुष्टता प्रदान करे |हमने इस सम्पादकीय श्रृंखला को मुख्य परीक्षा के प्रश्न पत्र 1,2,3और 4 के अनुरूप संकलित किया है ताकि अध्यनरत अभ्यर्थियो जिन्हें मुख्य परीक्षा लिखनी है उनका समय और उर्जा दोनों को बचाया जा सके |

देश के प्रतिष्ठित दैनिक समाचार पत्रों के अलावा साप्ताहिक /पाक्षिक पत्रिका ,विभिन्न वेबसाइट /वेब पोर्टलो से हमने इन सम्पादकीय को संकलित किया है |पहली श्रृंखला में हम प्रश्न पत्र 1 के पाठ्यक्रम के अनुसार सम्पादकीय को प्रस्तुत किया था जिनमे हमने कुछ प्रश्न भी शामिल किये है| यह दूसरी श्रृंखला पेपर 2 को समर्पित है| अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के सम्पादकीय को हम अलग विशेषांक के रूप में प्रस्तुत करेंगे|

हमारे कक्षा प्रोग्राम में सम्पादकीय आधारित उत्तर लेखन किया जाता है |बहुत जल्द ही हम इसका मॉडल उत्तर अपने वेबसाइट WWW.GSHINDI.COM/ WWW.THECOREIAS.COM

के अतिरिक्त हमारे YOUTUBE CHANNEL THECOREIAS पर भी देख सकते है |विगत वर्षों से संघ लोक सेवा आयोग के प्रश्नों में काफी व्यापकता आयी है ,जो की सम्पादकीय की प्रासंगिकता को संदर्भित करती है |

हमने साप्ताहिक निबंध की खुली प्रतियोगिता का आयोजन अपने वेबसाइट के माध्यम से किया है| जिसमे उम्र और शैक्षणिक योग्यता की कोई बाध्यता नहीं है |अधिक जानकारी के लिए [WWW.GSHINDI.COM /](http://WWW.GSHINDI.COM/) WWW.THECOREIAS.COM पर विजिट कर सकते है या फिर हमे WHATSAPP/TELEGRAM +918800141518 पर सन्देश भेज सकते है|

THECOREIAS CLASSROOM PROGRAMME **(Session 1) Mains QUESTION of Paper II**

1. उच्चतम न्यायालय द्वारा हाल ही में बाल विवाह पर दिए गए फैसले का तर्क नहीं बल्कि उसके द्वारा उत्पन्न होने वाले प्रभाव चिंता का विषय है, आलोचनात्मक मूल्यांकन करिये?

और

उच्चतम न्यायालय द्वारा IPC-375 में क्या परिवर्तन किये गए और उसके होने वाले प्रभाव को बताइए?

2. कोलेजियम द्वारा हाल ही में किया गया निर्णय हमारे न्यायिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर है, हालाँकि हमें उत्साह के साथ इस कदम की सराहना करनी चाहिए, परन्तु हमें यह भी ध्यान रखना होगा की यह केवल शुरुआत है, अभी बहुत किया जाना बाकी है. उच्चतम न्यायालय द्वारा कोलेजियम के निर्माण को सार्वजनिक क्षेत्र में उजागर करने के संदर्भ में उपरोक्त कदम का मूल्यांकन करे?

3. लोकतंत्र में सरकार की वैधता निर्वाचित प्रतिनिधिओ द्वारा सरकार की लगातार जाँच से उजागर होती है, समय आ गया है की हम अपने नियमों में बदलाव कर अपनी संसदीय प्रणाली को मजबूत बनाये जिससे संसद और राज्य विधानसभा जैसे प्रमुख संसथान अपनी भूमिकाओ को प्रभावी ढंग से निर्वहन करे?

4. संसद का महत्त्व पिछले लगातार वर्षों से कम हो रहा है, क्या आप इससे सहमत है? चर्चा करे

5.. संसद लोकतंत्र की आत्मा है जहाँ नागरिकों की आवाज प्रतिबिंबित होती है, परन्तु संसदीय प्रणाली की कुछ खामियों के कारण लोकतंत्र के इस प्रमुख संसथान की गरिमा का हास हो रहा है, कारणों सहित विश्लेषण करे?

6. भारत में शासन में सुधार के लिए हमें शासन में उपसर्ग "e" की जरूरत नहीं अपितु उपसर्ग "E" एथिकल की जरूरत है, विवेचना करे

7. कॉर्पोरेट गवर्नेंस पर बनी उदय कोटक समिति के गुणवत्ता पर चर्चा करिए?

8. भारतीय व्यापारिक क्षेत्र पर कोटक समिति की रिपोर्ट [कॉर्पोरेट गवर्नेंस] कैसे एक परिवर्तक के तौर पर हो सकती है बताइए?

9. कानून और नीतिया जो सुरक्षित गर्भपात की सुविधा प्रदान करती है, वह निश्चित तौर पर गर्भपात की दर/संख्या में वृद्धि नहीं करती. क्या आप सहमत है | इस सन्दर्भ में वर्तमान MTP एक्ट 1971 का मूल्यांकन करे?

10. 2015 में WHISTEL BLOWER BILL में लाया गया संशोधन 2014 के कानून को गौण कर रहा है, चर्चा करे?

11.. भारत में भ्रष्टाचार को खत्म करने की WHISTEL BLOWER BILL 2014 कानून का क्रियान्वयन एक अच्छी पहल हो सकती है?

अधिकरण TRIBUNAL

12. भारत में अधिकरण के बढ़ने के कारण क्या है? आपके अनुसार क्या यह एक अच्छा सूचक है?
13. यद्यपि अधिकरण त्वरित न्याय प्रक्रिया को सुनिश्चित करती है, परन्तु इनमें व्याप्त असंगतियाँ पूर्व कथित उद्देश्य को प्राप्त करने में मुख्य बाधक है? चर्चा करें?
14. विधि आयोग की हाल ही में अधिकरण के लिए जारी रिपोर्ट की मुख्य अनुशंसाओं का उल्लेख करते हुए, कहा तक ये अनुशंसाएँ अधिकरण को हमारी न्यायिक प्रक्रिया में उपयुक्त स्थान देने की कोशिश करेगी?
15. लोकतंत्र के लिए स्थिर और जवाबदेह सरकार ही नहीं बल्कि मजबूत विपक्ष भी जरूरी है, आवश्यक टिप्पणी करें?
16. नागरिकों के बोलने की आज़ादी को विधायिका के विशेषाधिकार पर प्राथमिकता देने की आवश्यकता के कारण हमें विशेषाधिकार को संहिताबद्ध करना चाहिए?
17. आप संसद के विशेषाधिकार से क्या समझते हैं? भारत में समय-समय पर विशेषाधिकार की जो समस्या है उन पर चर्चा करें?
18. भारतीय संसद की प्रक्रियाओं में उसके कार्यप्रणाली की संकट को देखते हुए उसमें सुधार, आधुनिकीकरण और अद्भुतन की आवश्यकता है? चर्चा करें।
19. निजता के अधिकार को मूलभूत अधिकार के रूप में घोषणा एक महत्वपूर्ण कदम है परन्तु अब सरकार की जिम्मेदारी बनती है की एक डाटा संरक्षण कानून लाये, भारत में इसकी आवश्यकता क्यों है उन कुछेक सिफ़ारिशों का सुझाव दे जो इन्हें कानून के तहत अपनाना चाहिए ?

<u>Constitutional Ethos / Principle</u>	
	<ol style="list-style-type: none"> 1. अभिव्यक्ति की जीत:Padmaavat Controversy 1.1 नहीं जरूरी विशेषाधिकार 2. घटती बहस और कम होती साख {PARLIAMENT DECLINE} 2{1}.बाधित संसद लोकतंत्र की अवमानना 2{2} संसद राजनीति नहीं, नीति का स्थान बने 2.{3} विधायिका का दामन 2.4 स्पीकर का निष्पक्ष होना जरूरी 3.(I) फायदे जो लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव एक साथ कराने से हो सकते हैं 3 (II) लोकसभा और विधानसभाओं (simultaneous election) के चुनाव एक साथ कराने के नुकसान क्या हो सकते हैं? 3(III) 'One Nation One Election' संघीय अवधारणा और स्वस्थ लोकतंत्र के विरुद्ध 4. समलैंगिकता और अप्राकृतिक यौन संबंध और समानता 5. किसी भी खाप या व्यक्ति को बालिग लड़के-लड़की की शादी पर सवाल उठाने का हक नहीं : सुप्रीम कोर्ट 6. अराजकता के विरुद्ध : खाप 7. न्यायपालिका को न्याय की तलाश 8. लोकतंत्र की रक्षा के लिए 9. सरकारी प्राधिकरणों को मुकदमेबाजी का बुखार 10. साफ-सुथरे लोकतंत्र के लिए पहल : SC Judgement on Electoral Reform 11. न्यायिक अनुशासन की जरूरत 12. दलते समाज में अप्रासंगिक होते कानून section 497 of IPC

	<p>13.रबड़ स्टाम्प नहीं राष्ट्रपति</p> <p>14..राज्यसभा में सुधार का सही समय</p> <p>15प्राइव्हेसी नागरिकों का मौलिक अधिकार?</p> <p>16.राज्य सभा हाईकमान के प्रतिनिधियों के बजाय वास्तव में राज्यों का सदन</p> <p>17. ग्राम सभा की बात</p> <p>18. CAG : क्या बस एक मूक दर्शक बनकर रह गया है ?</p>
<u>Indian Judiciary</u>	<p>1. . न्यायपालिका के लिए इंफ्रास्ट्रक्चर सुविधाओं का विस्तार</p> <p>2. अधिकरणों की सीमित भूमिका से बढ़ेगी उच्च न्यायालयों की ताकत</p> <p>3. पारदर्शिता की पहल</p> <p>4. कठघरे में जज</p> <p>5. न्यायपालिका में न्यायाधीशों के रिक्त स्थान या सरकारों के मुकदमे लंबित मामलों के लिए जिम्मेदार</p> <p>6. न्यायिक सक्रियता (Judicial Activism) संवैधानिक मूल्यों की हिफाजत के लिए है विधायिका के अधिकारों पर अतिक्रमण के लिए नहीं</p>
<u>Supreme Court Decision's</u>	<p>1. राष्ट्रगीत पर मुहर</p> <p>2. कर्नाटक का अलग ध्वज की मांग करना उचित या अनुचित?</p>

<u>Election Reform</u>	<ol style="list-style-type: none"> 1. दागियों के दोष से मुक्त हो सियासत 2. असल चुनाव सुधारों का इंतजार
<u>REGULATORY BODIES</u>	<ol style="list-style-type: none"> 1. नियामकीय संस्थानों के लिए हो स्वतंत्र आकलन की व्यवस्था (Regulatory bodies and their performance) 2. नियामकों की भूमिका में होनी चाहिए और स्पष्टता 3. <u>RBI: सीमित स्वायत्तता (Autonomy)</u>
<u>Programme/ Scheme/Bill</u>	<ol style="list-style-type: none"> 1. नेशनल मेडिकल कमीशन बिल 2. भ्रूण लिंग परीक्षण: गर्भधारण पूर्व और प्रसव पूर्व निदान तकनीक अधिनियम, 1994 3. व्यावसायिक अदालतों, व्यावसायिक डिबिजन और उच्च न्यायालयों के व्यावसायिक डिबिजन (संशोधन) विधेयक 2018 को मंजूरी 4. मेडिकल टर्मिनेशन ऑफ प्रेगनेंसी एक्ट' के प्रावधानों पर पुनर्विचार की मांग 5. अदालतों के डिजिटल होने की राह में अभी कई सारे झोल 6. माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा उपकर की बची राशि से माध्यमिक और उच्च शिक्षा के लिए एकल गैर परिसमापनीय कोरपस नीति के निर्माण के लिए मंत्रिमंडल की मंजूर

	<p>7. निजता (Privacy) के मूल अधिकार बनने का मतलब</p> <p>7.1. निजता के अधिकार की महत्ता</p> <p>8. पुलिस सुधार की गाड़ी</p>
<u>Social Justice: Poverty, Education, Justice</u>	<p>1. आहार में विविधता की जरूरत : कुपोषण की समस्या कम करने के लिए</p> <p>2. न्यायालयों का बोझ कम करने और लाखों लोगों को त्वरित न्याय देने में नजीर बन सकती हैं न्याय पंचायतें</p> <p>3. मरने का अधिकार: right to die</p> <p>4. आंकड़ों के बाजार में हमारी निजता (Privacy)</p> <p>5. देश भर में अब समान पारिश्रमिक</p> <p>6. पूर्ण स्वतंत्रता आवश्यक</p> <p>7. न्यूनतम वेतन प्रस्ताव के बड़े हैं जोखिम</p> <p>8. कुपोषण (malnutrition) के शिकार</p> <p>9. 1922 से लेकर अब तक आर्थिक असमानता (Economic inequality) की खाई स्थिति अत्यंत भयानक</p> <p>10. ताजा भूख सूचकांक में भारत</p> <p>11. देश में गैरबराबरी और भूख</p> <p>12. वैश्विक लैंगिक असमानता और भारत</p> <p>13. गरीबी से पिछड़ता भारत का विकास</p>
<u>Health</u>	<p>1. बोझ बना स्वास्थ्य ढांचा</p> <p>2. राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति, 2017</p> <p>3. इलेक्ट्रॉनिक स्वास्थ्य रिकॉर्ड</p> <p>4. राष्ट्रीय चिकित्सा आयोग (एनएमसी) विधेयक</p>

	<p>5. स्वास्थ्य सेवाओं को इलाज की जरूरत</p> <p>6. मोदीकेयर राष्ट्रीय स्वास्थ्य संरक्षण बीमा योजना : विश्व की सबसे बड़ी चिकित्सा बीमा योजना</p> <p>7. बुनियादी स्वास्थ्य की परवाह जरूरी: Health</p> <p>8. बीमार' विचार: निजी चिकित्सालय जिला चिकित्सालयों के साथ मिलकर स्वास्थ्य सेवाएं</p> <p>9. निजी स्वास्थ्य संस्थानों की नकेल कसनी जरूरी</p> <p>10. स्वास्थ्य सेवाएं जमीनी स्तर तक ले जानी जरूरी</p>
<u>Education</u>	<p>1. बेरोजगारी की लाचारी [INDICATES OF FAILURE OF EDUCATION SYSTEM}</p> <p>2. रोजगार लायक कौशल नहीं दिला पा रही शिक्षा व्यवस्था</p> <p>3. सतर्क करती रिपोर्ट : UNICEF Report</p> <p>4. स्वायत्तता की परख (Autonomy of Institutions)</p> <p>5. शिक्षा की दुर्गति</p> <p>6. सरकारी स्कूलों की साख</p> <p>7. सरकारी स्कूलों की खस्ता हालत' देश के केवल 37 प्रतिशत स्कूलों में ही बिजली</p> <p>8. हम शिक्षक को किनारे कर शिक्षण चाहेंगे तो शिक्षा का बंटोडार तो होगा ही</p>
<u>Indian Diaspora</u>	<p>1. ब्रेन ड्रेन रोकने के करने होंगे प्रयास</p>
<u>Governance</u>	<p>1. नौकरशाही पर सख्ती</p> <p>2. सुशासन में नागरिक समाज की भूमिका</p> <p>3. नौकरशाही: "Committed to whom government or constitution</p> <p>4. तीसरी सरकार की तरह बनें नगर निकाय</p> <p>5. क्यों विशेष अदालतों के जरिए अपराधियों को</p>

	राजनीति से दूर करना उतना आसान नहीं है जितना दिखता है
<u>Centre State Relation</u>	<ol style="list-style-type: none">1. विशेष राज्य (Special status) का दर्जा किस आधार पर दिया जाता है और इसमें क्या सुविधाएँ मिलती हैं?2. भाषाई आधार पर राज्यों का गठन

THE CORE IAS

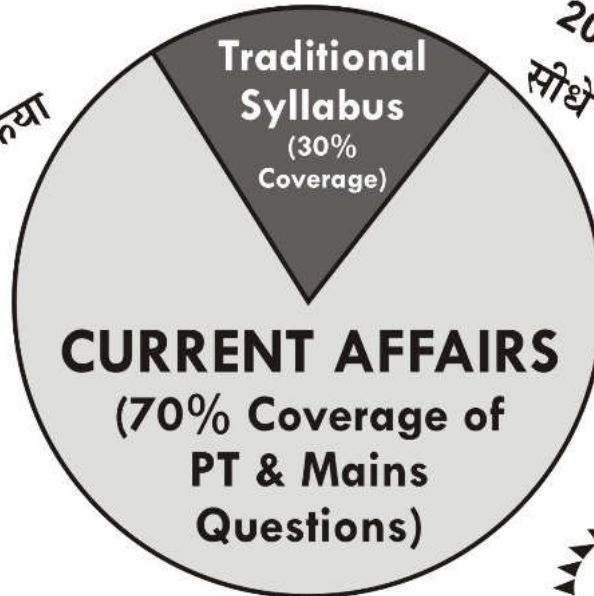
Initiative by GS Hindi

THE HINDU CLASS & EDITORIAL BASED ANSWER WRITING

Both Hindi & English Medium

500+ Questions Coverage from
July 2017 to Sept. 2018

The Core IAS
Class Notes ने
पुनः यह साबित किया



2018 के PT में 40+ प्रश्न
सीधे Class Notes से।

TOPPER'S VIEW

Contact:
8800141518

Constitutional Ethos

1. अभिव्यक्ति की जीत: Padmaavat Controversy

आखिरकार ढेर सारे विवाद और टकराव के बावजूद फिल्म 'पद्मावत' को पूरे देश में दिखाए जाने का रास्ता साफ हो गया। फिल्म निर्माता की याचिका पर फैसला सुनाते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने चार राज्यों द्वारा फिल्म पर लगाई गई पाबंदी हटाने का आदेश दिया और उनकी संबंधित अधिसूचनाओं पर रोक लगा दी। गौरतलब है कि सेंसर बोर्ड की मंजूरी मिल जाने के बाद भी राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश और हरियाणा की सरकारों ने तय किया कि वे अपने-अपने राज्य में फिल्म का प्रदर्शन नहीं होने देंगी।

- सर्वोच्च अदालत ने इन राज्य सरकारों द्वारा लगाई गई पाबंदी को हटाने का आदेश तो दिया ही, साथ में यह भी जोड़ा कि कोई अन्य राज्य फिल्म की बाबत प्रतिबंधात्मक आदेश जारी न करे।
- साफ है कि अदालत ने अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का पक्ष लिया है, और इस तरह उसने संवैधानिक आधारों और संवैधानिक मूल्यों के अनुरूप ही फैसला सुनाया है।
- यह सही है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता असीमित नहीं होती। इसकी सीमाएं संविधान में रेखांकित की गई हैं। मसलन, राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरा होने, सांप्रदायिक सौहार्द बिगड़ने या किसी अन्य देश से रिश्ते खराब होने आदि की सूरत में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का तर्क टाला जा सकता है। पर पद्मावत फिल्म के साथ ऐसा कुछ नहीं था। अलबत्ता कुछ लोगों का एतराज था कि फिल्म में इतिहास के तथ्यों से छेड़छाड़ की गई है और राजपूती प्रतिष्ठा को ठेस पहुंचाई गई है। यही कहते हुए कुछ संगठन फिल्म का विरोध करते रहे हैं। लेकिन जब फिल्म बनने के दौरान ही दो बार उसके सेट पर तोड़-फोड़ की गई और फिल्म निर्देशक के साथ हाथापाई भी हुई, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि तथ्यों के आधार पर ही विरोध शुरू हुआ?

विवाद के काफी तूल पकड़ लेने पर फिल्म निर्देशक ने सुलह-सफाई के क्रम में कुछ वरिष्ठ पत्रकारों को फिल्म दिखाई और उन सबका कहना था कि फिल्म में कुछ भी आपत्तिजनक नहीं है। उनकी यह भी राय थी कि फिल्म में राजपूती आन-बान का हर लिहाज से खयाल रखा गया है। निर्माता-निर्देशक ने राजघराने के कुछ सदस्यों और कुछ इतिहासकारों को भी फिल्म दिखाई ताकि शक दूर किए जा सकें। फिर, विवादों का शमन करने की खातिर ही फिल्म का नाम 'पद्मावती' से बदल कर 'पद्मावत' कर दिया गया, जिससे यह जाहिर हो कि फिल्म इतिहास होने का दावा नहीं करती, बल्कि यह अवधी के महाकवि मलिक मुहम्मद जायसी के महाकाव्य 'पद्मावत' की कथा पर आधारित है। इसके बाद विवाद शांत हो जाना चाहिए था। लेकिन जहां आग भड़काए रखना निहित स्वार्थ या एक खास तरह की गोलबंदी का जरिया बन जाए, वहां कोई तथ्य या तर्क मायने नहीं रखता। फिर तो 'भावनाएं आहत होने' की दलील देकर हिंसा या हिंसा की धमकी को भी जायज ठहराया जाने लगता है। याद रहे, फिल्म के कुछ विरोधियों ने नाक काटने से लेकर

दौड़ा-दौड़ा कर मारने तक कैसी-कैसी धमकियां दी थीं। उनके खिलाफ क्या कार्रवाई हुई? उलटे, संबंधित राज्य सरकारों का रवैया ऐसे तत्त्वों को शह देने का ही रहा है।

आखिर फिल्म सेंसर बोर्ड में पेश किए जाने से पहले ही उस पर एक के बाद एक कई राज्यों में प्रतिबंध के आदेश जारी होने का क्या मतलब था? और भी दुखद यह है कि फिल्म को सेंसर बोर्ड की हरी झंडी मिल जाने के बाद भी चार राज्यों की सरकारों ने प्रतिबंधात्मक आदेश जारी कर दिए। ऐसे में हमारे लोकतंत्र का क्या होगा? लोकतंत्र संवैधानिक और स्वायत्त संस्थाओं के संवैधानिक अधिकारों और स्वायत्तता का सम्मान करके ही चल सकता है। कुछ राज्य सरकारों ने सेंसर बोर्ड के फैसले की जैसी अवहेलना की वह बहुत ही दुखद है। बेशक लोकतंत्र में शांतिपूर्ण विरोध की जगह है। जो संगठन इस फिल्म के विरोध में हैं वे लोगों से फिल्म न देखने की अपील कर सकते हैं। लेकिन सेंसर बोर्ड और अब सर्वोच्च न्यायालय के भी फैसले को लागू न होने देने का उन्हें कोई अधिकार नहीं है। सर्वोच्च अदालत ने इस संदर्भ में भी राज्य सरकारों को उनके कर्तव्य की याद दिलाई है।

1.1 नहीं जरूरी विशेषाधिकार

Historical background:

1453 में हाउस ऑफकॉमन्स के अध्यक्ष थॉमस थोप्रे एक मामूली जुर्माना अदा न किए जाने के आरोप में गिरफ्तार किए गए; सांसद स्ट्रॉड को वर्ष 1512 में गिरफ्तार किया गया कि उनने ऐसे बिल संसद में पेश कर दिए थे, जो महारानी को नापसंद थे; इलियट, होल्लिस और वेलेंटाइन वर्ष 1629 में गिरफ्तार किए गए क्योंकि सदन में उनके भाषणों में महारानी को देशद्रोह झलका।

- संसदीय विशेषाधिकार लोकतंत्र के लिए चले लंबे संघर्ष का प्रतिफल हैं।
- राजशाही और संसद के बीच नागरिकों के अधिकारों को लेकर संघर्ष का परिणाम हैं क्योंकि किंग अपने खिलाफ बोलने वालों/बोल सकने वालों को गिरफ्तार करा देते थे।

Indian system

हमारे संसदीय लोकतंत्र में संसद के पास लगभग सर्वोच्च शक्तियां हैं, इसलिए सदस्यों को ऐसा कोई खतरा नहीं है, सो, विशेषाधिकारों की जरूरत नहीं है।

Recent context

कर्नाटक विधान सभा के स्पीकर जब विधायक थे तो उनके और दो अन्य विधायकों के खिलाफ लिखने पर दो पत्रकारों को कर्नाटक विधान सभा द्वारा जिस तरह सजा सुनाई गई और जर्माना लगाया गया, उससे एक बार फिर विशेषाधिकारों को संहिताबद्ध किए जाने और विधायिका के विशेषाधिकारों पर नागरिकों की अभिव्यक्ति के अधिकार को वरीयता देने को लेकर चर्चा शुरू हो गई है।

Past incidences:

- सर्चलाइट मामले में बिहार विधान सभा में कुछ शोरशराबा हुआ। संवाददाता ने अपनी रिपोर्ट भेजी और शाम के अखबार ने उसे छाप दिया। उस समय तक सदन इस समूचे प्रकरण को कार्यवाही से हटा चुका था
- संपादक ने अभिव्यक्ति की आजादी के अपने अधिकार की दुहाई दी तो सदन और मुख्यमंत्री ने सदन की कार्यवाहियों पर नियंत्रण और उनके प्रकाशन संबंधी अपने अधिकार की बात कही
- दुर्भाग्य से सुप्रीम कोर्ट ने विशेषाधिकारों को अभिव्यक्ति की आजादी पर तरजीह दी।
- इसके कुछेक वर्ष बाद ही उत्तर प्रदेश में एक और विवाद उभरा। उप्र विधान सभा ने केशव सिंह नाम के व्यक्ति को सात दिन के कारावास की सजा सुनाई। सजा के सातवें दिन दो वकीलों ने केशव सिंह की रिहाईके लिए बंदी प्रत्यक्षीकरण याचिका दायर की। इस पर इलाहाबाद हाई कोर्ट की लखनऊ पीठ के दो जजों (जस्टिस बेग और जस्टिस सघल) ने केशव सिंह की रिहाई का आदेश करते हुए नोटिस जारी कर दिए। जब यह खबर विधान सभा पहुंची तो स्पीकर ने इसे गंभीरता से लिया। इसे सदन की अवमानना मानते हुए दोनों जजों को हिरासत में लेकर सदन के समक्ष पेश करने को कहा। जैसे ही न्यायाधीशों को इस बारे में पता चला वे तत्काल इलाहाबाद पहुंचे। अगले दिन हाईकोर्ट की पूर्ण पीठ ने स्पीकर के आदेश पर स्थगनादेश दे दिया
- ऐसे नाजुक मौके पर भारत के राष्ट्रपति ने इस जटिल मामले को सुप्रीम कोर्ट के पास भेज दिया ताकि उसकी राय जानी जा सके।

Decision of Court:

शीर्ष अदालत की सात सदस्यीय पीठ ने सर्चलाइट मामले में दिए गए फैसले को एक बार फिर दोहराया। कहा कि प्रेस की आजादी और विधायिका के विशेषाधिकारों के मध्य विवाद के मामले में विशेषाधिकारों को तरजीह देनी होगी लेकिन विशेषाधिकार अनुच्छेद 21 के तहत प्रदत्त जीवन जीने की आजादी और व्यक्तिगत स्वतंत्रता को कमतर नहीं कर सकते।

- तय तो यह है कि विसंगतियों के लिए संविधान बनाने वाले दोषी हैं, जिनने विश्व के सर्वाधिक बड़े संविधान का मसौदा तैयार करते समय विधायी विशेषाधिकारों के व्यापक हिस्से को अपरिभाषित छोड़ दिया।
- राजेन्द्र प्रसाद इस प्रावधान को लेकर खुश नहीं थे, लेकिन उन्हें आस्त किया गया कि यह पूरी तरह से अस्थायी प्रावधान था।
- अनुच्छेदों 105 तथा 194 में स्पष्ट कहा गया है कि "विधायिका की शक्ति, विशेषाधिकार और विशेष संरक्षण विधायिका द्वारा तय और समय-समय पर परिभाषितानुसार तय होंगे, और, अगर उन्हें परिभाषित नहीं किया गया तो वे हाउस ऑफकॉमन्स पर लागू प्रावधानों के मुताबिक होंगे।"
- "अगर परिभाषित नहीं किया गया" का तात्पर्य विशेषाधिकारों को परिभाषित करने की स्पष्ट शक्ति नहीं है। इतना ही नहीं, भारतीय संविधान का मसौदा तैयार करने वालों ने यह गलती भी कि भारतीय संसद को ब्रिटिश हाउस ऑफकॉमन्स के तुल्य रख दिया।
- ब्रिटिश संविधान के तहत संसद सर्वोच्च है। भारत में संविधान सर्वोच्च है। इसलिए भारतीय विधायिका और ब्रिटिश संसद न केवल सामान्य राजनीतिक स्थिति बल्कि वैधानिक शक्तियों के मामले में भी भिन्न हैं। इसके अलावा, ब्रिटिश सदन ने स्वयं को अतीत से मुक्त कर लिया है।

- **Individual criticism & Privileges:** संसद या इसके सदस्यों के खिलाफ कृत्य और टिप्पणियां अब विशेषाधिकार के सवाल के तौर पर नहीं देखी जातीं। संसद और इसके सदस्यों को अपनी आलोचना सुनने को तैयार रहना पड़ता है।

International experience:

- बीती दो सदियों से अमेरिकी हाउस ऑफ रिप्रेजेंटेटिव्स सजा देने के अधिकार के बिना अच्छे से चल रहा है।
- ऑस्ट्रेलिया ने 1901 में हाउस ऑफकॉमन्स जैसे विशेषाधिकार रखने का फैसला किया था, अब अतीत से छुटकारा पा चुका है। उसने 1987 में विशेषाधिकारों को संविदाबद्ध किया है।

हैरत ही तो है कि हमारे विधायक अपने भ्रष्टाचार को ढांपने के लिए न केवल विशेषाधिकारों को ढाल बनाते हैं, बल्कि अदालतों में यह तक दलील देते हैं कि वे 'सार्वजनिक सेवक' नहीं हैं। हरद्वारी लाल और एआर अंतुले मामलों में तो अदालत ने भी इस दलील को मानते हुए कहा था कि विधायक 'सार्वजनिक सेवक' नहीं हैं। हालांकि, पीवी नरसिंह राव मामले में उन्हें 'सार्वजनिक सेवक' करार दिया गया था। बहरहाल, जस्टिस एमएन वेंकटचेलैया की अध्यक्षता वाले संविधान समीक्षा आयोग ने सिफारिश की है कि विशेषाधिकारों को परिभाषित किया जाना चाहिए और विधायिकाओं के स्वतंत्र और निष्पक्ष कामकाज के लिए उनकी हदबंदी की जानी चाहिए। आज जब अदालत ने न्यायिक सक्रियता और जनहित याचिका कानून के जरिए बुनियादी अधिकारों की समूची अवधारणा का उदारीकरण कर दिया है, तो ऐसे में अभिव्यक्ति की आजादी विधायिका के विशेषाधिकारों से कमतर नहीं किए जाने चाहिए। आज की यह तात्कालिक जरूरत है कि प्रेस की आजादी के बरक्स विधायिका के विशेषाधिकारों पर नये सिरे से दृष्टिपात किया जाए।

2. घटती बहस और कम होती साख {PARLIAMENT DECLINE}

Parliament's life lies in Debate & Discussion

सदीय लोकतंत्र शासन प्रणाली में श्रेष्ठ प्रणाली मानी जाती है, क्योंकि इसमें किसी विधेयक और नीति या मुद्दे पर व्यापक बहस और हर पहलू को सामने रखने की गुंजाइश होती है। संसदीय प्रणाली का मूलाधार संसद में बहस है। किंतु यदि संसद में पर्याप्त बहस ही न हो, बहस हो तो उसकी गुणवत्ता काफी कमजोर हो, विधेयक तक बिना बहस के पारित किए जाने लगे, तो यह समझना चाहिए कि हमारी संसदीय लोकतांत्रिक प्रणाली पूर्ण स्वस्थ नहीं है।

Declining standards of debate

- अभी हाल में एक अध्ययन में यह सामने आया है कि पिछले दस वर्षों में संसद में करीब 47 प्रतिशत विधेयक बिना किसी बहस के पारित कर दिए गए। इनमें से भी अनेक विधेयक सत्र के आखिरी कुछ घंटों में पारित हुए। बस विधेयक पटल पर रखा गया, पीठासीन अधिकारी महोदय ने यस और नो कहलवाया और विधेयक कानून बना।
- सका अर्थ हुआ कि हमारी संसद हाल के वर्षों में ऐसे कानून बना रही है, जिस पर बहस नहीं होती। जब बहस नहीं होती, तो फिर उसके गुण-दोषों पर पूरी तरह विचार नहीं होता और इसके आधार पर विधेयक में संशोधन-परिवर्तन की गुंजाइश खत्म हो जाती है। ऐसी स्थिति में कई बार निर्दोष

कानून या विधान मिलने की संभावना भी खत्म होती है। कई बार ऐसे गंभीर मामले होते हैं, जिनको बहस के बीच में या बहस के पहले या फिर बहस के बाद भी संसदीय समितियों को सौंपना पड़ता है।

Responsibility of parliamentary committees

- समिति का दायित्व होता है कि गंभीर विमर्श के बाद अपनी अनुशंसाओं के साथ वह फिर से संसद को वह विधेयक वापस करे। ऐसा होता भी है। किंतु रिपोर्ट यह बताती है कि इस अवधि में करीब 31 प्रतिशत विधेयक ऐसे पारित हुए, जिनकी किसी संसदीय समिति में समीक्षा तक नहीं हुई। अगर विधेयक पर बहस नहीं हो और उसकी समीक्षा करने का अवसर संसदीय समितियों को भी न मिले, तो फिर उसकी क्या दशा होगी। यानी सरकार जैसा चाहती है वैसे एकपक्षीय विधेयकों को पारित करके कानून बना दिया जाता है। यह एक खतरनाक स्थिति है।
- हालांकि किसी विधेयक को संसदीय समिति के पास भेजा जाना अनिवार्य नहीं है। ऐसा कोई प्रावधान नहीं कि विधेयकों को समितियों के पास भेजा ही जाए, किंतु आम तौर पर गंभीर विषयों को भेजने की परंपरा-सी बन गई है। वैसे संसदीय मामले पर अध्ययन करने वाले अनेक लोग यह मानते हैं कि संसदीय समितियों के होने से भी बहस पर जोर कम हुआ है।
- जिस भी मुद्दे पर मतभेद उभरा या जिसमें विषयों की थोड़ी जटिलता है, गहराई है उसे तुरंत माननीय सदस्य समिति को भेज देने की मांग करते हैं और इसे प्रायः स्वीकार कर लिया जाता है।

No place of 4th D in Parliament

पूर्व राष्ट्रपति प्रणब मुखर्जी संसद के काम के लिए 'थ्री डी' का प्रयोग बार-बार करते थे। इसका मतलब है- डिबेट, डिस्सेशन और डिसिजन। उनके मुताबिक, इन तीनों भूमिकाओं में चौथे डी यानी डिसरप्शन या बाधा के लिए कोई जगह नहीं है। दुर्भाग्य से चौथा डी इस समय हावी है और बाकी तीन डी को कमजोर हो रहा है। अगर आंकड़ों पर नजर दौड़ाएं, तो जहां 1952 यानी पहली संसद से 1971-72 यानी चौथी संसद तक संसद वर्ष में निर्धारित 128 से 132 दिनों तक बैठती थी, वहीं यह अब 64 से 67 दिनों तक ही संसद की बैठक होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यदि संसदीय प्रणाली को उसके वास्तविक चरित्र के अनुरूप सार्थक और पर्याप्त बहस के चरित्र में फिर से ढालना है, तो उसके लिए व्यापक राजनीतिक सुधार करना होगा। राजनीतिक सुधार के बगैर हम चाहे, इसकी जितनी आलोचना करें, जितनी चिंता प्रकट करें, कोई अंतर नहीं आएगा।

2{1}बाधित संसद लोकतंत्र की अवमानना

संसदीय लोकतंत्र में संसद ही सर्वोच्च है। हमारे माननीय संसद सदस्य इस सर्वोच्चता का अहसास कराने का कोई मौका भी नहीं चूकते, पर खुद इस सर्वोच्चता से जुड़ी जिम्मेदारी-जवाबदेही का अहसास करने को तैयार नहीं। संसद में धनबलियों और बाहुबलियों की बढ़ती संख्या और लोकतंत्र की मूल भावना को इससे बढ़ते खतरे की चर्चा और चिंता मीडिया से लेकर सर्वोच्च अदालत तक मुखर होती रही है। जाहिर है, इस गहराते खतरे के लिए राजनीतिक दलों का नेतृत्व ही जिम्मेदार है, जो अक्सर ऐसी जवाबदेही से मुंह ही चुराने के लिए जाना जाता है। बेशक विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र की ऐसी तस्वीर बेहद निराशाजनक ही नहीं, चिंताजनक भी है, लेकिन संसद ठप रहने की बढ़ती प्रवृत्ति भी कम खतरनाक नहीं है।

Declining Parliamentary standard

- संसद का वर्तमान बजट सत्र अपने कामकाज के बजाय हंगामे के लिए ही समाचार माध्यमों में सुर्खियां बनता रहा है।
- अगर हम संसद की घटती बैठकों के मद्देनजर देखें तो सत्र के दौरान बढ़ता हंगामा और बाधित कार्यवाही हमारे माननीय सांसदों और उनके राजनीतिक दलों के नेतृत्व की लोकतंत्र में आस्था पर ही सवालिया निशान लगा देती है।
- संसद की सर्वोच्चता का स्पष्ट अर्थ यह भी है कि वह देश हित-जनहित में कानून बनाने के अलावा सरकार के कामकाज की कड़ी निगरानी और समीक्षा भी करे, लेकिन हमारे देश में लोकतंत्र के सबसे बड़े मंदिर का हाल यह है कि देश का बजट तक बिना चर्चा के पारित हो गया।
- ऐसे में यह सवाल बेहद स्वाभाविक है कि अगर आने वाले साल में सरकार के आय-व्यय का लेखाजोखा तक बिना चर्चा के पारित हो जाने हैं, तब फिर संसद आखिर है किसलिए?
- वर्तमान बजट सत्र में जारी हंगामे के चलते न सिर्फ 99 मंत्रालयों-विभागों का बजट-2018 संशोधनों समेत महज 30 मिनट में पारित कर दिया गया, बल्कि राष्ट्रपति-राज्यपालों की वेतन वृद्धि तथा पिछले 40 सालों में मिले राजनीतिक चंदे को जांच मुक्त करने संबंधी विधेयकों को भी बिना चर्चा हरी झंडी दिखा दी गयी।

ऐसे में यह सवाल उठना भी बेहद स्वाभाविक है कि फिर पूरे बजट सत्र के दौरान संसद ने किया क्या है?

बार-बार हंगामे के चलते कार्यवाही स्थगित होने से साफ है कि काम तो नहीं ही किया, पर दलगत स्वार्थों से प्रेरित आरोप-प्रत्यारोप लगाने में न सत्तापक्ष पीछे रहा और न ही विपक्ष। सत्ता का खेल बनकर रह गयी राजनीति में आरोप-प्रत्यारोपों की कीचड़ उछाल स्पर्धा अप्रत्याशित नहीं है, लेकिन उसके लिए संसद की कार्यवाही को ही बंधक बना लेना तो लोकतंत्र और जनमत की अवमानना ही है। तर्क दिया जा सकता है कि बिना बहस बजट पहली बार तो पारित नहीं किया गया? बेशक काम से ज्यादा हंगामे के लिए पहचानी जाने वाली हमारी राजनीति अतीत में भी दो बार बिना चर्चा बजट पारित करने का कारनामा कर चुकी है, लेकिन संसदीय लोकतंत्र को शर्मसार करने वाली कारगुजारियों की पुनरावृत्ति करने के बजाय उनसे सबक सीखना ही श्रेयस्कर होता है।

आखिर इसी संसद ने पिछले साल बजट सत्र में कामकाज का शानदार रिकॉर्ड बनाया था। उस रिकॉर्ड को दोहराने या बेहतर बनाने का संकल्प क्यों नहीं लिया गया?

वर्ष 2017 के बजट सत्र में इसी संसद के निचले सदन यानी लोकसभा ने तो कामकाज के मामले में नया रिकॉर्ड कायम किया था। पिछले कुछ दशकों से किसी आरोप या मुद्दे को लेकर अथवा किसी रणनीति के तहत संसद ठप करने की बढ़ती अलोकतांत्रिक प्रवृत्ति के चलते यह वाकई बेहद सुखद अहसास था कि पिछले साल बजट सत्र के दोनों चरणों में हुई लोकसभा की कुल 29 बैठकों में तय वक्त से भी 19 घंटे ज्यादा समय काम हुआ। फिर आश्चर्य कैसा कि कामकाज भी लगभग 113 प्रतिशत ज्यादा हुआ।

पिछले बजट सत्र में न सिर्फ बजट पर बाकायदा बहस हुई, बल्कि जीएसटी सरीखा विवादास्पद, मगर महत्वपूर्ण विधेयक भी चर्चा के बाद पारित किया गया। यह बताना भी प्रासंगिक होगा कि नरेंद्र मोदी सरकार की पूर्ववर्ती मनमोहन सिंह सरकार के दूसरे कार्यकाल में वर्ष 2012 का मानसून सत्र भारत के संसदीय इतिहास का सबसे ठप सत्र माना जाता है। उस सत्र में सबसे कम काम और सबसे ज्यादा हंगामा हुआ था। बेशक कुछ महत्वपूर्ण विधेयक शोरगुल के बीच ही पारित हो गये, लेकिन बड़ी संख्या में विधेयक पारित नहीं

हो पाये थे। इस उल्लेख में सरकारों का जिक्र इसलिए जरूरी लगा क्योंकि सदन चलाना मुख्यतः सत्तापक्ष की जिम्मेदारी मानी जाती है, जबकि हंगामे का ठीकरा अक्सर विपक्ष के ही सिर फोड़ दिया जाता है।

वर्ष 2012 में संसद के जिस मानसून सत्र में सबसे कम काम हुआ, उसमें कोयला खदान आवंटन घोटाला समेत अनेक मुद्दों पर विपक्ष मनमोहन सरकार को घेर रहा था। तब मुख्य विपक्षी दल भाजपा का भी यही तर्क होता था कि सदन चलाना सत्तापक्ष की जिम्मेदारी है। कहना नहीं होगा कि तब संप्रग सरकार का नेतृत्व कर रही कांग्रेस, विपक्ष को संसदीय और लोकतांत्रिक जिम्मेदारी-जवाबदेही याद दिलाती थी। दरअसल तर्क कुछ भी दिया जाये, लेकिन कोई भी सदन सत्तापक्ष और विपक्ष, दोनों के बीच सहयोग के बिना चल ही नहीं सकता। हां, सरकार में होने के नाते सत्तापक्ष विपक्ष की मांगों पर बड़प्पन और लचीला रुख दिखाते हुए सदन सुचारु रूप से चलाने की गंभीर पहल अवश्य कर सकता है, लेकिन हाल के दिनों में तो देखा गया है कि सदन में कार्यवाही से ज्यादा हंगामा, दोनों पक्षों को रास आने लगा है। यह गंभीर स्थिति है। तीन दशक बाद किसी एक दल को मिले बहुमत के बाद भी राजग के सहयोगियों के साथ मिलकर सरकार बनाने वाली भाजपा की मोदी सरकार पहली बार संसद में असहज महसूस कर रही है। हालांकि हालिया राज्यसभा चुनावों के बाद उच्च सदन में उसकी स्थिति कुछ बेहतर हुई है, लेकिन लगता है कि कुछ ही दिन पहले उत्तर प्रदेश-बिहार के लोकसभा उपचुनावों में मिले जोर के झटके से वह अभी तक उबर नहीं पायी है, वरना क्या कारण है कि लोकसभा में स्पष्ट बहुमत के बावजूद विपक्षी दलों को अविश्वास प्रस्ताव पेश नहीं करने दिया जा रहा? सरकार को कोई खतरा नहीं, यह बात विपक्ष भी अच्छी तरह जानता है, लेकिन लोकसभा उपचुनाव नतीजों से उत्साहित विपक्ष अविश्वास प्रस्ताव पर होने वाली बहस में तमाम मुद्दों पर सरकार को घेरने का मौका नहीं चूकना चाहता। खासकर इसलिए भी कि पहली बार मोदी सरकार से उसके मित्र दलों ने मुंह फेरना शुरू कर दिया है।

यह समझना मुश्किल नहीं होना चाहिए कि संसद के अंदर और बाहर जो राजनीतिक भाव-भंगिमाएं नजर आ रही हैं, वे दरअसल अगले लोकसभा चुनाव की तैयारियों का भी संकेत हैं। चुनाव लोकतंत्र की प्राण वायु होते हैं। इसलिए उनका महत्व नकारा नहीं जा सकता, लेकिन संसदीय लोकतांत्रिक शासन प्रणाली को चुनावों तक ही सीमित कर देने के खतरों को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। सवाल संसद की कार्यवाही पर आने वाले भारी-भरकम खर्च और माननीयों के बिना काम भी बढ़ते बेलगाम वेतन-भत्तों से मेहनतकश करदाताओं पर पड़ते बोझ का तो है ही, लोकतंत्र में जन साधारण की आस्था का उससे भी अहम है। इसलिए राजनीतिक दलों और उनके माननीय सांसदों को शह-मात की राजनीति के लिए संसद को ठप करने के बजाय दूसरे कारगर विकल्प खोजने चाहिए।

2{2} संसद राजनीति नहीं, नीति का स्थान बने

Decline of Parliament:

आजकल हमारे देश की संसदीय चर्चाएं मुश्किल से ही प्रभावित करने वाली होती हैं। एक समय था, जब संसदीय बहसों राष्ट्रीय और महत्वपूर्ण मुद्दों पर केंद्रित होती थीं, लेकिन अब इनका विषय संकीर्ण दृष्टि वाले स्थानीय मुद्दे होते हैं। नाममात्र की उपस्थिति, स्तरहीन चर्चाओं, सत्र के दौरान शोर-शराबे के बीच कोई सांसद नीतिगत चर्चाओं में शायद ही कुछ योगदान दे पाने की स्थिति में होता होगा। इसलिए संसद सत्र को प्रभावी बनाने के लिए कुछ बातों पर ध्यान देना जरूरी है।

What needs to be done:

- समय की उपयोगिता-जब संसद सत्र चल रहा होता है, तो इसके हर मिनट पर 2.5 लाख रुपये का खर्च आता है, पर इस कीमती समय का इस्तेमाल बहुत खराब तरीके से होता है।
- वर्ष 1950 से 1960 के दौरान लोकसभा एक साल में औसतन 120 दिन चलती थी। इसकी तुलना में, बीते दशक में लोकसभा हर साल औसतन 70 दिन ही चली। ज्यादातर देशों में संसद का सत्र साल भर चलता है, खासकर ब्रिटेन और कनाडा में।
- भारतीय संसद के पास सत्र आहूत करने का अधिकार नहीं है, लेकिन साल में तय अवधि तक इसका संचालन सुनिश्चित किया ही जाना चाहिए।
- संविधान की कार्यप्रणाली की समीक्षा के लिए गठित राष्ट्रीय आयोग ने अपनी सिफारिश में कहा था कि लोकसभा के लिए कम से कम 120 दिन और राज्यसभा के लिए 100 दिन की बैठक जरूर होनी चाहिए। संसद बैठक न करके एक तरह से कार्यकारिणी पर नियंत्रण रखने की अपनी मूल जिम्मेदारी के निर्वहन में लापरवाही बरत रही है।

जनभागीदारी बढ़ानी होगी-राजनीतिक नेतृत्व पर पुरुषों का एकछत्र राज है। लोकसभा और राज्यसभा में महिला सांसदों की संख्या कभी 12 फीसदी से ज्यादा नहीं हुई। संसद में महिलाओं को प्रतिनिधित्व देने के मामले में भारत दुनिया में नीचे से 20वें पायदान पर है। राजनीतिक दलों में राष्ट्रीय व क्षेत्रीय स्तर पर महिलाओं की भागीदारी, खासकर नेतृत्व के मोर्चे पर, कमतर बनी हुई है। देश में सिर्फ चार दलों की कमान महिलाओं के हाथ में है, जबकि पार्टी सदस्यता 10-12 फीसदी है। इसमें बड़े पैमाने पर बदलाव की शुरुआत महिला आरक्षण विधेयक (108वां संशोधन) के पास होने के बाद संसद में महिलाओं को 33 फीसदी आरक्षण देने से हो सकती है।

विधेयकों पर हो पर्याप्त चर्चा-संसद से पारित होने वाले कानूनों को आजकल कई बार जल्दबाजी में ड्राफ्ट किए जाने और अफरातफरी में पास किए जाने के लिए आलोचना होती है। वर्ष 2008 में 16 विधेयक 20 मिनट से भी कम समय की चर्चा में पारित कर दिए गए। प्राइवेट मेंबर विधेयकों का पास नहीं होना भी चिंता की बात है। संसद सत्र के दौरान हर शुक्रवार को सत्र का दूसरा हिस्सा प्राइवेट मेंबर विधेयक पर चर्चा के लिए तय है। आज तक सिर्फ 14 प्राइवेट मेंबर विधेयक पास हुए हैं। इनमें सबसे आखिरी 1970 में पास हुआ था। विधायिका के काम के तरीके और प्राथमिकताएं तय करने में हमें व्यवस्थित तरीका अपनाना होगा। संसदीय समिति को, अब जिसका चलन खत्म-सा ही हो गया है, फिर से जगह देनी होगी। पिछली सीटों पर बैठने वाले सांसदों को कानून बनाने की प्रक्रिया के दौरान ऐसी समितियों में आम जनता की तरफ से आवाज बुलंद करने का मौका मिलता है। जैसा कि कानून मंत्रालय ने भी यह मुद्दा उठाया है, हमें एक संविधान समिति बनाने की भी जरूरत है। संविधान संशोधन विधेयक को संसद में साधारण कानूनों की तरह पेश किए जाने के बजाय अच्छा होगा कि संविधान में बदलाव का ड्राफ्ट बनाने से पहले ही समिति इसकी समीक्षा कर ले।

संसद की चर्चाएं-किसी सांसद से जुड़ा मतदान का कोई रिकॉर्ड नहीं रखा जाता, इसलिए सांसदों के निजी प्रगतिशील या रूढ़िवादी स्वभाव का पता लगना मुश्किल है। नेतृत्व क्षमता की बात तो खैर जाने दें। इधर, दल-बदल निरोधक कानून भी ऐसे सांसदों की सदस्यता छीनकर दंडित करता है, जो पार्टी लाइन से हटकर मतदान करते हैं। दल-बदल कानून में बदलाव करने की जरूरत है। सांसदों को अंतरात्मा की आवाज का स्वतंत्र इस्तेमाल करने की आजादी होनी चाहिए और इस कानून का इस्तेमाल सिर्फ अपवाद स्थितियों में ही किया जाना चाहिए। यूनाइटेड किंगडम में सांसदों को मुक्त रूप से मतदान की आजादी है।

संसदीय शोध को बढ़ावा देना होगा-संसद की लाइब्रेरी ऐंड रेफरेंस, रिसर्च, डाक्यूमेंटेशन ऐंड इनफार्मेशन सर्विस री काम कर रहे हैं। यह लोकसभा सचिवालय के कुल कर्मचारियों की संख्या का करीब

आठ फ्रीसदी है। कई देशों की संसद अपने सांसदों को शोध टीम की सेवाएं लेने के लिए फंड देती हैं। संसद की बौद्धिक संपदा में निवेश करना जरूरी है। इसलिए सांसदों को शोध स्टाफ रखने में मदद दिए जाने की जरूरत है। बजट स्कूटनी से जुड़ी प्रक्रिया को चुस्त-दुरुस्त बनाने के लिए भी हमें संस्थागत व्यवस्था बनाने की जरूरत है। अधिकांश सांसदों के पास स्टाफ या तो बहुत कम हैं या बिल्कुल ही नहीं है, जिस वजह से वे निजी तौर पर विशेषज्ञ सलाह हासिल कर पाने से वंचित रहते हैं। उनके सहायक स्टाफ और संसदीय क्षेत्र के लिए मिले फंड में मौलिक शोध के लिए कुछ नहीं बचता। अमेरिकी कांग्रेस बजट ऑफिस की तरह भारत में भी संसदीय बजट ऑफिस की जरूरत है, जो स्वतंत्र और निष्पक्ष रहते हुए किसी भी किस्म के खर्च के बिल या एस्टिमेट का तकनीकी और वस्तुपरक मूल्यांकन कर सकेगा। केन्या, दक्षिण अफ्रीका, मोरक्को, फिलीपींस, घाना और थाईलैंड जैसे देश इस पर अमल भी कर चुके हैं।

भारत के लोग कानून बनाने के ज्यादा कारगर व्यवस्था की अपेक्षा रखते हैं, जो जनप्रतिनिधियों को उनकी अधिकारिता का ज्यादा जिम्मेदारी से एहसास कराए। इसके साथ ही हमें किसी खास वर्ग की तरफदारी करने वाली राजनीति से भी सतर्क रहना चाहिए, जो राष्ट्र को नुकसान पहुंचा रही है। हमें याद रखना होगा कि संसद नीति बनाने का स्थान होना चाहिए, न कि राजनीति करने का।

2.3} विधायिका का दामन

In news:

एक जनहित याचिका पर चल रही सुनवाई के कारण राजनीति के अपराधीकरण का मुद्दा एक बार फिर चर्चा का विषय बना है। अलबत्ता इस पर राजनीतिक दल फिलहाल खामोश हैं, जो इस स्थिति के लिए सबसे ज्यादा जवाबदेह हैं।

- याचिका पर सुनवाई करते हुए सर्वोच्च अदालत ने दोषी ठहराए गए कानून निर्माताओं यानी सांसदों व विधायकों को आजीवन चुनाव लड़ने के अयोग्य घोषित करने के सवाल पर अस्पष्ट रवैया अपनानेके लिए निर्वाचन आयोग को आड़े हाथों लिया और कहा कि इस मामले में आयोग खामोश नहीं रह सकता है। दरअसल, इस मामले में दाखिल किए अपने हलफनामे में आयोग ने कहा था कि वह राजनीति को अपराधीकरण से मुक्त करने की हद तक प्रस्तुत याचिका का समर्थन करता है।
- पर साफ है कि यह बयान गोलमोल है, और इसमें असल सवाल से किनारा कर लिया गया है। याचिकाकर्ता ने मांग की है कि जिस तरह किसी न्यायिक अधिकारी या नौकरशाह को अदालत से दोषीसिद्ध होने पर हमेशा के लिए नौकरी से प्रतिबंधित कर दिया जाता है, वैसा ही कानून जनप्रतिनिधियों की बाबत भी होना चाहिए।
- इस पर सुनवाई के सिलसिले में सर्वोच्च अदालत ने केंद्र सरकार और निर्वाचन आयोग से अपना पक्ष रखने को कहा था।
- केंद्र ने तो याचिका में की गई मांग को अनुचित बताते हुए उसे खारिज कर देने का अनुरोध किया, पर आयोग ने अपने हलफनामे में जो कुछ कहा उससे उसकी सदाशयता भले झलकती हो, यह नहींपता चलता कि उसका रुख क्या है।
- इस पर अदालत की नाराजगी स्वाभाविक थी। अदालत ने झंझलाते हुए यह तक कहा कि अगर विधायिका में बैठे लोगों की तरफ से आयोग की कोई विवशता है, या अपना दृष्टिकोण बताने में लाचारहै, तो वह भी बताए।

What next:

अब आयोग ने एक पूरक हलफनामा पेश करने का इरादा जताया है।

- एक तरफ उसके अधिकारों की रक्षा करने की गारंटी संविधान ने सर्वोच्च न्यायालय को दे रखी है, पर दूसरी तरफ, संवैधानिक और स्वायत्त संस्था होने के बावजूद निर्वाचन आयुक्तों की नियुक्ति केंद्रसरकार करती है।
- दोषी ठहराए गए विधायक और सांसद को ताउम्र चुनाव लड़ने से नाकाबिल ठहराने की मांग केंद्र खारिज कर चुका है। ऐसे में आयोग की मुश्किल का अंदाजा लगाया जा सकता है।
- लेकिन यह भी स्वीकार करना होगा कि याचिका में एक नेक मकसद पेश तो कर दिया गया है, पर चुनौतियों और जटिलताओं को समझे बगैर।
- यह सही है कि आज विधायिका में ऐसे भी लोग हैं जिनके खिलाफ अदालतों में आपराधिक मामले लंबित हैं। पर सरकारी नौकरी और विधायिका की सदस्यता में फर्क है।

Legislature is will of citizens

विधायिका की सदस्यता केवल निजी इच्छा या निजी काबिलियत की देन नहीं है, वह जन-इच्छा की देन है, मतदाताओं का फैसला है। इसीलिए विधायिका की सदस्यता के लिए न्यूनतम शैक्षिक योग्यताकी शर्त नहीं रखी गई है, जो नौकरी में अनिवार्य है। कुछ लोग संसद या विधानसभा में हंगामे के मद्देनजर यह सलाह देते हैं कि काम नहीं तो वेतन (या भत्ता) नहीं का सिद्धांत लागू किया जाए। परसांसद या विधायक का काम विधेयकों व प्रस्तावों का समर्थन ही करते जाना नहीं होता, बल्कि सरकार के अनुचित फैसलों तथा गलत नीतियों का विरोध करना भी होता है। इसलिए विधायिका की सदस्यता को सरकारी नौकरी की तरह देखने का आग्रह कभी नहीं होना चाहिए। हां, सर्वोच्च न्यायालय ने ठीक सुझाया है कि जनप्रतिनिधियों, नौकरशाहों तथा न्यायिक अधिकारियों पर लगे आरोपों परसुनवाई के लिए विशेष अदालतें गठित हों, ताकि ऐसे मामलों का तेजी से निपटारा हो सके।

2.4 स्पीकर का निष्पक्ष होना जरूरी

Question:

Speaker of legislature has important role to maintain the high esteem of Indian Democracy but the internal contradiction has let us down? Do you agree. Present your answer with argument.

भारतीय जनतंत्र की गरिमा को अक्षुण्ण बनाए रखने में विधायिका अध्यक्ष की महती भूमिका है परन्तु इस पद में अंतर्निहित विरोधाभासो ने हमें लज्जित किया है। क्या आप सहमत है ? तर्कपूर्ण अपनापक्ष रखीए।

भारतीय प्रणाली में अध्यक्ष का पद हितों के टकराव से झड़ा हुआ है और इसके दुरुपयोग कि संभावना ज्यादा है। जाँच करे।

Position of speaker in Indian system is full of conflict of interest and chances of misuse is high. Examine

Some example of misuse of Speaker Post

- साल 1975 की बात है. प्रधानमंत्री ने पांचवीं लोकसभा के स्पीकर डॉ जीएस ढिल्लन को पद छोड़ने को कहा, और उन्हें जहाजरानी मंत्री बना दिया. यह एक नजीर थी, जिसने आनेवाले वक्त में इस पद पर बैठनेवालों को भी मन में ख्वाहिश पालने का हकदार बना दिया.
- ऐसे कई उदाहरण हैं, जब विधानसभा के स्पीकर ने प्रत्यक्षतः राजनीतिक फैसले से एक राजनीतिक संकट को टाल दिया.

How power of Speaker can be misused

- मसलन, दलबदल विरोधी कानून विधायिका में पार्टी छोड़नेवाले प्रतिनिधि की सदस्यता खत्म करने के प्रावधान के साथ व्यक्तिगत दलबदल पर रोक लगाता है, लेकिन अगर दलबदल करनेवाले सदन में पार्टी सदस्य संख्या के एक तिहाई से अधिक हैं, तो पार्टी तोड़ने की इजाजत है.
- यह तय करने का अधिकार कि प्रतिनिधि दलबदल के बाद सदस्यता खत्म किये जाने के दायरे में आता है या नहीं, सदन के पीठासीन अधिकारी को दिया गया है.
- वर्ष 2016 में अरुणाचल प्रदेश विधानसभा में स्पीकर नाबाम रेबिया द्वारा (सत्तारूढ़ दल के 41 सदस्यों में से) सोलह एमएलए अयोग्य घोषित कर दिये गये थे, हालांकि ना तो उन्होंने पार्टी छोड़ी थी, ना ही इसके निर्देशों का उल्लंघन किया था. मेघालय के स्पीकर पीके क्युंदियाह ने 1992 में मुख्यमंत्री के खिलाफ अविश्वास प्रस्ताव पेश किये जाने से ठीक पहले मतदान का अधिकार निलंबित कर दिया और बाद में पांच विधायकों को निलंबित कर दिया.

शिवराज पाटिल ने दलबदल विरोधी कानून की 'कमजोर कड़ियों' पर दुख जताया और व्यवस्था दी कि विभाजन किस्तों में हो सकता है, एक बार में एक विधायक; जिससे दलबदल कानून का मकसद ही नाकाम हो सकता है.

Learning from Other Constitution

- इसके मुकाबले में आयरलैंड के कानून को देखिये- जिसकी संसदीय व्यवस्था हमारे जैसी ही है. वहां स्पीकर का पद ऐसे शख्स को दिया जाता है, जिसने लंबे अंतराल में राजनीतिक महत्वाकांक्षा को तिलांजलि देकर विश्वसनीयता हासिल की है.
- वेस्टमिंस्टर मॉडल में स्पीकर को कैबिनेट में शामिल किया जाना वर्जित समझा जाता है. सिर्फ यूनाइटेड स्टेट्स में, जहां न्यायपालिका, कार्यपालिका और विधायिका के बीच शक्ति पृथक्करण का सिद्धांत कठोरता से लागू है, वहां स्पीकर को खुले तौर पर सक्रिय राजनीति में शामिल होने की इजाजत है. स्पीकर के तौर पर किये काम के आधार पर भविष्य में इनाम के आश्वासन ने इस पद को राजनीतिक महत्वाकांक्षा की सीढ़ी बना दी है.

Paradoxical Position

- स्पीकर की स्थिति बड़ी विरोधाभासी है. इस पद पर (चाहे संसद हो या राज्य की विधानसभा) बैठनेवाला किसी पार्टी के टिकट पर चुनाव लड़कर आता है, फिर भी उससे अपेक्षा की जाती है कि वह पार्टी से तटस्थ व्यवहार करेगा/करेगी.
- इस सबके बीच वह अगले चुनाव में फिर से पार्टी के टिकट का आकांक्षी रहेगा. तेजस्वी यादव ने इस बात को बोल ही दिया, जब उनसे जेडीयू के साथ गठबंधन धर्म को लेकर सवाल किया गया. तेजस्वी ने

कहा, 'अगर हमारी मंशा सरकार की बांह मरोड़ने की ही होती, तो हमने स्पीकर का पद अपने पास ही रखा होता.'

What to be done

- ये घटनाएं बताती हैं कि दलबदल विरोधी कानून में अधिक स्पष्टता लाने की जरूरत है. शायद बेहतर होता कि प्रतिनिधि की अयोग्यता से जुड़े ऐसे महत्वपूर्ण फैसले चुनाव आयोग की मदद लेते हुए राष्ट्रपति द्वारा तय किये जाते. स्पीकर का फैसला अंतिम होना भी इसके दुरुपयोग की संभावना को बढ़ा देता है.
- वर्ष 2016 में तमिलनाडु विधानसभा के तकरीबन सभी विधायकों को निलंबित कर दिया गया था, जबकि विरोध करते और लोकतंत्र की सेहत को लेकर सवाल उठाते डीएमके सदस्यों को सामूहिक तौर पर सदन से निकाल दिया गया था. भारत के लोकतांत्रिक मूल्यों पर चोट करनेवालों के साथ पक्षपाती स्पीकरों के कारण राज्यों की विधानसभाओं में ऐसे निलंबन के मामले बढ़ते जा रहे हैं.
- मौजूदा स्पीकर के लिए दोबारा चुनाव जीतने की जरूरत भी उसके फैसलों पर असर डालती है. स्पीकर की संसदीय सीट पर उसके खिलाफ प्रत्याशी नहीं उतारे जाने की परंपरा के कारण ब्रिटिश पार्लियामेंट के हाउस ऑफ कॉमन्स में चाहे किसी भी पार्टी का सदस्य हो, कभी भी अपनी सीट पर चुनाव नहीं हारा. इसकी तुलना में भारत में देखें, तो ऐसे कई स्पीकर (डॉ जीएस ढिल्लन- पांचवीं लोकसभा के स्पीकर, डॉ बलराम जाखड़- सातवीं और आठवीं लोकसभा के स्पीकर) हैं, जिन्होंने आम चुनाव में अपनी सीट गंवा दी.
- इसके अलावा किसी भारतीय स्पीकर को पद छोड़ने के बाद राज्यसभा का सदस्य नहीं बनाया गया, जबकि ब्रिटिश पार्लियामेंट स्पीकर को खुद ही राज्यसभा में भेज देती है. वीएस पेज की अध्यक्षता वाली पेज कमेटी (1968) ने सुझाव दिया था कि अगर स्पीकर ने अपने कार्यकाल में बिना पक्षपात काम किया है, तो उसकी अगली संसद की सदस्यता जारी रहने देना चाहिए.
- यह भी दलील दी जा सकती है कि स्पीकर बननेवाले को लोकसभा या विधानसभा का चुनाव निर्दलीय उम्मीदवार के रूप में लड़ना चाहिए. स्पीकर को जीवनभर के लिए पेंशन दी जानी चाहिए और भविष्य में राष्ट्रपति पद को छोड़ कर कोई भी राजनीतिक पद ग्रहण करने से प्रतिबंधित कर दिया जाना चाहिए. स्पीकर पद से पक्षपात को अलग किये जाने के लिए अन्य परंपराओं की स्थापना जरूरी है.
- 1996 तक लोकसभा में स्पीकर हमेशा सत्तारूढ़ पार्टी का होता था. कांग्रेस के पीए संगमा के एकमत से हुए चुनाव ने एक नयी परंपरा को जन्म दिया- स्पीकर सत्तारूढ़ पार्टी दल के बजाय दूसरी पार्टी से बना था. लेकिन, फिर हम पुराने ढर्रे पर लौट आये.

एक परिपक्व लोकतंत्र के तौर पर हमें स्पीकर की निष्पक्षता की मांग करनी चाहिए. ऐसे भी हुआ है, जब सरकार से समर्थन वापस लेनेवाले सांसदों की लिस्ट में स्पीकर (2008 के मध्य में सोमनाथ चटर्जी के मामले में ऐसा हुआ था; उन्होंने पार्टी के आदेश की अवहेलना की) का नाम दर्ज हुआ था. स्पीकर की तटस्थता को नुकसान पहुंचानेवाली ऐसी घटनाओं से बचना चाहिए.

ऐसी निष्पक्षता के जवाब में राजनीतिक पाबंदियां नहीं लगायी जानी चाहिए. अविश्वास प्रस्ताव पर सरकार के बच जाने के बाद 2008 में पार्टी अनुशासन तोड़ने के लिए सोमनाथ चटर्जी का सीपीआई (एम) से निष्कासन इसका एक अफसोसनाक उदाहरण है.

THE CORE IAS

Initiative by GS Hindi

WEEKEND CURRENT AFFAIRS

Batch - Saturday & Sunday

From 16-17 June (8:00 am - 11:30 am)

.....

FAST TRACK MAINS

ANSWER WRITING PROGRAMME

Daily 10 Editorial Based Question-Answer

From 18 June (Morning & Evening Batch)

.....

FOUNDATION MAINS

ANSWER WRITING PROGRAMME

for Mains 2019

From 18 June - 2 Days / Week (Morning & Evening Batch)

.....

Test Series of G.S & Optional (Geog, History, Hindi, Pol.Sc)

Other Module :

• Environment & Ecology • Society & Social Justice • History • Geog. • Essay

YouTube The Core IAS

Add. : Chamber No. 3, IInd Floor, Batra Complex,
Mukherjee Nagar, Delhi-110009



8800141518

9540297983

3. (1) फायदे जो लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव एक साथ कराने से हो सकते हैं

राजनीतिक स्थिरता (Political Stability)

- लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव एक साथ कराने का सबसे बड़ा फायदा यही बताया जा रहा है कि इससे राजनीतिक स्थिरता आएगी। क्योंकि अगर किसी राज्य में कार्यकाल खत्म होने के पहले भी कोई सरकार गिर जाती है या फिर चुनाव के बाद किसी भी दल को पूर्ण बहुमत नहीं मिलता तो वहां आनन-फानन में नहीं बल्कि पहले से तय समय पर ही चुनाव होगा। इससे वहां राजनीतिक स्थिरता बनी रहेगी।
- पांच साल तक किसी राज्य को अपनी विधानसभा के गठन के लिए इंतजार नहीं करना पड़े, इसके लिए यह सुझाव दिया जा रहा है कि ढाई-ढाई साल के अंतराल पर दो बार चुनाव हों। आधे राज्यों की विधानसभा का चुनाव लोकसभा के साथ हो और बाकी राज्यों का इसके ढाई साल बाद। अगर बीच में कहीं कोई राजनीतिक संकट पैदा हो और चुनाव की जरूरत पड़े तो वहां फिर अगला चुनाव ढाई साल के चक्र के साथ हो। विधि आयोग ने 1999 में अपनी 117वीं रिपोर्ट में राजनीतिक स्थिरता को ही आधार बनाकर दोनों चुनावों को एक साथ कराने की सिफारिश की थी।

चुनावी खर्च और अन्य संसाधनों की बचत (Saving of Resources)

- लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव एक साथ कराने के पक्ष में सबसे बड़ा तर्क यह दिया जा रहा है कि इससे चुनावी खर्च में काफी बचत होगी। केंद्र सरकार की ओर से यह कहा जा रहा है कि दोनों चुनाव एक साथ कराने से तकरीबन 4,500 करोड़ रुपये की बचत होगी।
- बचत की बात भी कई स्तर पर की जा रही है। अगर दोनों चुनाव एक साथ हों तो मोटे तौर पर सरकार का यह काम एक ही खर्च में हो जाएगा। उसे अलग से चुनाव कराने और सुरक्षा संबंधी उपाय नहीं करने होंगे। एक ही बार की व्यवस्था में दोनों चुनाव हो जाएंगे और इससे संसाधनों की काफी बचत होगी। सुरक्षा बलों को भी बार-बार चुनाव कार्य में इस्तेमाल करने के बजाए उनका बेहतर प्रबंधन करके जहां उनकी अधिक जरूरत हो, वहां उनका इस्तेमाल किया जा सकेगा। अगर एक साथ चुनाव होते हैं तो राजनीतिक दलों को भी दो अलग-अलग चुनावों की तुलना में हर स्तर पर कम पैसे खर्च करने होंगे। इन पार्टियों के स्टार प्रचारक एक ही सभा से दोनों चुनावों का चुनाव प्रचार कर सकेंगे। इससे हेलीकॉप्टर से लेकर सभा कराने तक, कई तरह के खर्च कम होंगे।

प्रशासन को सुविधा (Ease to Administration)

- एक साथ चुनाव होने से कई स्तर पर प्रशासकीय सुविधा की बात भी कही जा रही है। अलग-अलग चुनाव होने से अलग-अलग वक्त पर आदर्श आचार संहिता लगाई जाती है। इससे होता यह है कि विकास संबंधित कई निर्णय नहीं हो पाते हैं। शासकीय स्तर पर कई अन्य कार्यों में भी इस वजह से दिक्कत पैदा होती है।
- जानकारों के मुताबिक लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव एक साथ कराने से प्रशासनिक स्तर पर चुनावों की वजह से होने वाली असुविधा कम होगी और शासन तंत्र और प्रभावी ढंग से काम कर पाएगा।

आम जनजीवन में कम अवरोध

- जब भी चुनाव होते हैं, आम जनजीवन प्रभावित होता है। चुनावी रैलियों से यातायात पर असर पड़ता है। कई तरह की सुरक्षा बंदिशों की वजह से भी आम लोगों को दिक्कतों का सामना करना पड़ता है। ऐसे में अगर बार-बार होने वाले चुनावों के बजाय एक बार में दोनों चुनाव होते हैं तो इस तरह की दिक्कतें कम होंगी और आम जनजीवन में अपेक्षाकृत कम अवरोध पैदा होगा।

भागीदारी बढ़ सकती है (Increasing participation)

- लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव एक साथ कराने के पक्ष में यह बात भी कही जा रही है कि इससे चुनावों में आम लोगों की भागीदारी भी बढ़ सकती है।
- ऐसा इसलिए कहा जा रहा है कि देश में बहुत से लोग हैं जिनका वोटर कार्ड जिस पते पर बना है, वे उस पते पर नहीं रहते बल्कि रोजगार या अन्य वजहों से दूसरी जगहों पर रहते हैं। अलग-अलग चुनाव होने की वजह से वे अपनी मूल जगह पर मतदान करने नहीं जाते। लेकिन कहा जा रहा है कि अगर एक साथ चुनाव होंगे तो इनमें से बहुत सारे लोग एक बार में दोनों चुनाव होने की वजह से मतदान करने अपने मूल स्थान पर आ सकते हैं। अगर ऐसा होता है तो चुनावों में मत प्रतिशत और दूसरे शब्दों में आम लोगों की राजनीतिक भागीदारी बढ़ सकती है।

3 (2) लोकसभा और विधानसभाओं (simultaneous election) के चुनाव एक साथ कराने के नुकसान क्या हो सकते हैं?

This article discusses cons of simultaneous election

लोकसभा और विधानसभा चुनाव साथ कराने का मुद्दा बीते कुछ समय से लगातार गर्म है। बजट सत्र की शुरुआत में संसद के दोनों सदनों को संबोधित करते हुए राष्ट्रपति ने भी इसका जिक्र किया। उन्होंने कहा कि बार-बार चुनाव होने से विकास की रफ्तार में बाधा आती है क्योंकि अधिकारियों को चुनावों में हाथ बंटाना पड़ता है। राष्ट्रपति का यह भी कहना था कि राजनीतिक दलों के बीच ज्यादा संवाद होना चाहिए और इस बाबत एक समझौते के प्रयास किए जाने चाहिए। इससे पहले चुनाव आयोग का बयान भी आया था कि वह लोकसभा और राज्य विधानसभाओं के चुनाव साथ कराने के लिए तैयार है। उसका कहना था कि इसके लिए संविधान में संशोधन की जरूरत भी होगी। चुनाव आयोग के मुताबिक उसने अपनी राय से कानून मंत्रालय और संसदीय समिति को भी अवगत करा दिया है।

बीते कुछ समय से प्रधानमंत्री की अगुवाई वाली केंद्र सरकार लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव एक साथ कराने की योजना पर एक सहमति बनाने की दिशा में काम कर रही है। सरकार और इस विचार के समर्थकों द्वारा दोनों चुनाव एक साथ कराने के कई फायदे गिनाए जा रहे हैं। इनमें से कुछ प्रमुख फायदों का जिक्र सत्याग्रह ने अपनी एक रिपोर्ट में किया था। लेकिन इस कवायद का एक दूसरा पक्ष भी है। लोकसभा और विधानसभा के चुनाव एक साथ कराने से कुछ नुकसान भी हो सकते हैं।

जनता के प्रति जवाबदेही कम होना (Accountability to the people)

- लोकतंत्र को जनता का शासन कहा जाता है. ऐसे में भारत में जिस तरह की संसदीय प्रणाली अपनाई गई है उसमें अलग-अलग वक्त पर होने वाले अलग-अलग चुनाव एक तरह से जनप्रतिनिधियों को जनता के बीच लगातार जवाबदेह बने रहने के लिए मजबूर करते हैं. कोई भी पार्टी या नेता एक चुनाव जीतने के बाद निरंकुश होकर इसलिए नहीं काम कर पाता कि उसे छोटे-छोटे अंतराल पर किसी न किसी चुनाव का सामना करना पड़ता है.
- जानकारों के मुताबिक ऐसे में अगर दोनों चुनाव एक साथ होते हैं तो राजनेताओं और पार्टियों पर से यह अंकुश हट जाएगा. एक बार चुनाव होने के बाद वे पांच साल के लिए जनता के प्रति किसी जवाबदेही से निश्चित हो जाएंगे. इसलिए कइयों को एक साथ चुनाव होने से सरकारों, पार्टियों और नेताओं की जनता के प्रति जवाबदेही कम होने की आशंका सता रही है.

क्षेत्रीय एजेंडे पर राष्ट्रीय एजेंडे का दबदबा (National issue takes prominence over regional)

- लोकसभा और विधानसभा चुनावों के एक साथ होने का एक बड़ा संकट यह भी है कि क्षेत्रीय एजेंडे पर राष्ट्रीय एजेंडा हावी हो सकता है. अभी की स्थिति यह है कि लोकसभा चुनावों के मुद्दे अलग होते हैं. इनमें वोट मांगते वक्त और वोट देते वक्त राष्ट्रीय महत्व के मुद्दों को अधिक तवज्जो दी जाती है. वहीं विधानसभा चुनावों में क्षेत्रीय मुद्दे हावी रहते हैं. पूरा चुनाव अभियान इन्हीं मुद्दों के आसपास घूमता है.
- ऐसे में लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव एक साथ होते हैं तो इस बात की आशंका रहेगी कि क्षेत्रीय मुद्दे कहीं गुम न हो जाएं. ऐसे में राष्ट्रीय पार्टियां राष्ट्रीय स्तर पर जो चुनाव अभियान चलाएंगी उसका कलेवर वे एक तरह का रखना चाहेंगी ताकि पूरा अभियान हर जगह प्रभावी हो. इसमें क्षेत्रीय मुद्दों के लिए जगह बना पाना मुश्किल होगा.

क्षेत्रीय पार्टियों के लिए संकट

- क्षेत्रीय एजेंडे पर राष्ट्रीय एजेंडे के हावी होने का खतरा कई लोग यह भी मान रहे हैं कि क्षेत्रीय पार्टियों के लिए चुनाव में मुश्किलें पैदा हो सकती हैं और नई चुनावी व्यवस्था राष्ट्रीय पार्टियों के लिए अधिक अनुकूल हो सकती है. ऐसे में राजनीतिक दलों की विविधता कम हो सकती है. आम तौर पर राज्यों में क्षेत्रीय दल वहां की जरूरतों के हिसाब से खास मुद्दों को लेकर खड़े होते हैं. ऐसे में अगर क्षेत्रीय दल कमजोर होंगे तो स्थानीय मुद्दों को नई व्यवस्था में प्राथमिकता मिलने की संभावना कम हो जाएगी.
- क्षेत्रीय दलों के सामने दूसरा संकट संसाधनों का होगा. एक साथ चुनाव होने की स्थिति में राष्ट्रीय पार्टियां अपना चुनाव अभियान राष्ट्रीय स्तर पर चलाने के लिए जितने संसाधन झोंकेंगी, उनकी बराबरी कर पाना क्षेत्रीय पार्टियों के बस का नहीं है. इस वजह से कहीं न कहीं राष्ट्रीय पार्टियों से मुकाबला करने की क्षेत्रीय पार्टियों की क्षमता पर असर पड़ेगा.

चुनावों के व्यक्ति केंद्रित होने की आशंका (Election based on personaloity of leader)

- ❖ लोकसभा और विधानसभा चुनाव एक साथ होने का एक नुकसान यह भी बताया जा रहा है कि चुनाव अभी से ज्यादा व्यक्ति केंद्रित हो जाएंगे. लोकसभा का चुनाव एक साथ होने की वजह से राष्ट्रीय पार्टियां प्रधानमंत्री पद का उम्मीदवार घोषित करके चुनाव में जा सकती हैं और ऐसे में पूरा चुनावी अभियान उस व्यक्ति के आसपास केंद्रित रह सकता है

- ❖ अभी भी यह होता है. लेकिन अगर लोकसभा चुनावों के साथ विधानसभा के चुनाव भी होते हैं तो इस तरह के चुनावी अभियान का असर विधानसभा चुनावों के मतदान पर भी पड़ेगा और इन चुनावों में भी मतदाताओं का ध्रुवीकरण व्यक्ति केंद्रित हो सकता है. जानकारों के मुताबिक ऐसे में संभव है कि लोग जिस व्यक्ति को प्रधानमंत्री पद पर देखना चाह रहे हों, उसी की पार्टी के पक्ष में वे विधानसभा चुनावों के लिए भी वोट कर दें.

स्पष्ट बहुमत नहीं मिलने का पेंच (Majority?)

- लोकसभा और विधानसभाओं के चुनाव एक साथ कराने में सबसे बड़ा पेंच यह है कि अगर किसी राज्य में विधानसभा त्रिशंकु बनी तो उस स्थिति में क्या होगा. क्या उस राज्य में फिर से चुनाव होगा? या फिर उस राज्य को अगले पांच साल तक विधानसभा चुनाव के लिए इंतजार करना पड़ेगा? कहा यह भी जा रहा है कि सभी विधानसभा चुनावों को ढाई-ढाई साल के अंतराल पर दो हिस्से में बांटा जाएगा. अगर ऐसा होता है तो त्रिशंकु विधानसभा होने की स्थिति में क्या उस राज्य को अगले ढाई साल तक अगले विधानसभा चुनाव के लिए इंतजार करना पड़ेगा?
- जिन विकल्पों का जिक्र यहां किया गया है, इनमें से कोई भी विकल्प अपनाया गया तो उसमें काफी जटिलताएं हैं और नई व्यवस्था मौजूदा व्यवस्था से कम से कम इस मोर्चे पर कम जटिल नहीं होगी. इन्हीं जटिलताओं का सामना तब भी करना पड़ेगा जब किसी राज्य की सरकार या केंद्र सरकार अपना कार्यकाल खत्म होने से पहले किसी राजनीतिक वजह से गिर जाए. ऐसी स्थिति में क्या होगा, इस बारे में भी अभी स्पष्टता नहीं है

3(III) One Nation One Election' संघीय अवधारणा और स्वस्थ लोकतंत्र के विरुद्ध'

भारत में 'एक देश एक चुनाव' का प्रयास लोकतंत्र को सुदृढ़ बनाने की बजाय उसको कमजोर ही करेगा। यह देश हित में नहीं है। इसके लिए चुनाव पर बहुत ज्यादा धन खर्च होने और निरंतर चुनाव से प्रशासन के व्यस्त रहने व विकास कार्य में अड़चनों की दलीलें दी जा रही हैं। चुनाव आयोग द्वारा कराए गए चुनाव में होने वाले खर्च को राष्ट्र वहन नहीं कर सकता, यह कभी नहीं कहा गया। चुनाव खर्च का ताल्लुक राजनीतिक दलों व उम्मीदवारों के खर्चों से ही होता है।

- ✓ इसके पीछे प्रचार साधनों के महंगे होने का तर्क होता है और राजनीतिक दलों के लिए जिताऊ होना उम्मीदवार की योग्यता होती है।
- ✓ क्षेत्र में उसके काम व जीतने के तरीके पर ध्यान नहीं दिया जाता।
- ✓ बहुतों के जिताऊ होने का आधार धन व बाहुबल होता है। इन जिताऊ उम्मीदवारों की अन्य योग्यता नहीं होती इसीलिए वे प्रचार में अधिकाधिक खर्च करते हैं।
- ✓ राजनीतिक दल सदस्यों में चुनाव करवाएं और पारदर्शी तरीके से उम्मीदवार चुनें तो प्रचार खर्च घट जाएगा। चुनाव लोकतंत्र का सबसे महत्वपूर्ण उपकरण है।
- ✓ चुनाव खर्च कम करने के लिए चुनावों को कम करवाना लोकतंत्र पर घातक प्रहार है। दलील यह भी है कि निरंतर चुनाव होने से कहीं न कहीं आदर्श चुनाव संहिता लागू रहती है और इससे प्रशासन व विकास के कार्य बंद हो जाते हैं। लेकिन, आचार संहिता प्रशासन और विकास कार्य की चलती हुई योजनाएं बंद करने की बात नहीं कहती। यह वहीं लागू होती है, जहां चुनाव हो रहा हो। एक तर्क यह भी है कि सरकार के बड़े नेताओं के चुनाव प्रचार में व्यस्त होने से भी प्रशासनिक कार्य बाधित होता है।

- ✓ हम क्यों भूल जाते हैं कि जो नेता कार्यपालिका में होते हैं वे अगले पांच साल तक पद की जिम्मेदारी निभाने की शपथ लेते हैं। लेकिन, ये पद की शपथ को या तो भूल जाते हैं या जानबूझकर नकार देते हैं। जिन लोगों के बिना चुनाव प्रचार हो ही नहीं सकता, उन्हें कार्यपालिका के पदों पर नहीं बिठाना चाहिए।
- ✓ लोकसभा का एक ही चुनाव होता है। विभिन्न राज्य विधानसभाओं के लिए अलग-अलग चुनाव होते हैं। संविधान राज्यों को अलग पहचान व जिम्मेदारी देता है अतः विधानसभाओं के चुनावों को लोकसभा के साथ बांधना संघीय ढांचे की अवधारणा के विरुद्ध है।

एक देश एक चुनाव कराने के लिए संविधान में संशोधन करने होंगे जो फिलहाल मुमकिन नहीं लगता। यदि ऐसा हुआ हो तो ध्यान दिला दूँ कि केशवानंद भारती निर्णय में उच्चतम न्यायालय ने कहा हुआ है कि संविधान के आधारभूत ढांचे को बदलने का अधिकार संसद को भी नहीं है। संघीय प्रणाली संविधान के आधारभूत ढांचे का अटूट हिस्सा है। एक देश एक चुनाव इस संघीय प्रणाली को बदलकर इकाई प्रणाली बनाने का अप्रत्यक्ष प्रयास लगता है।

THE CORE IAS

(www.gshindi.com)


DAILY CURRENT MAINS ANSWER WRITING CLASS
500+ Current Issues from the Hindu, Livemint
10 Question x 50 days = 500 Current Based Question

Weekend Current Affairs Class For IAS-2019

Like YouTube The Core IAS

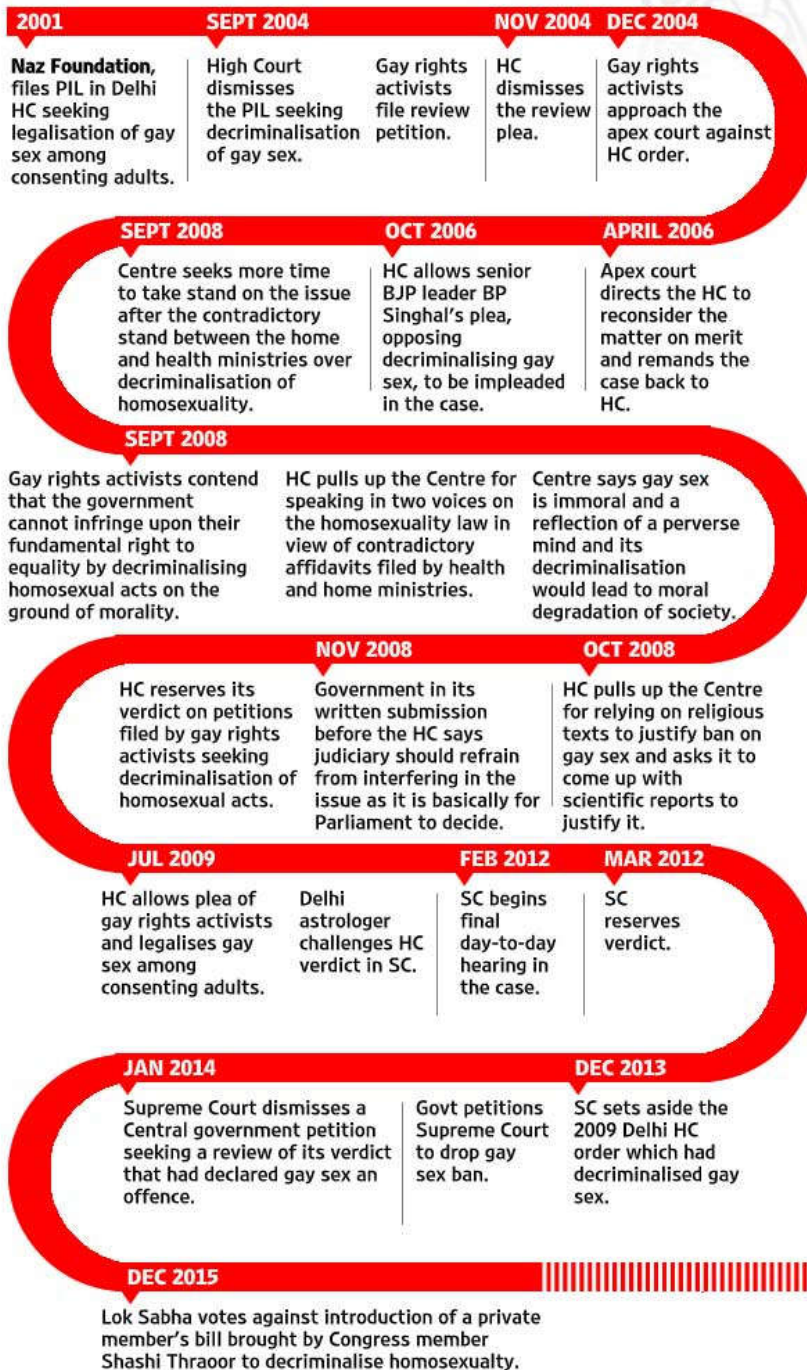
Add. : Chamber No. 3, IInd Floor, Batra Complex,
 Mukherjee Nagar, Delhi-110009

 8800141518

 9540297983

4. समलैंगिकता और अप्राकृतिक यौन संबंध और समानता

LGBT rights in India The 15-year-long legal battle



design by amit mathur

This article disucs some judicial history of LGBT case and attacked on social stereotyping

समलैंगिकता और अप्राकृतिक यौन संबंध को अपराध बताने वाली धारा-377 पर सुप्रीम कोर्ट फिर से विचार करेगा। चीफ जस्टिस दीपक मिश्रा की अध्यक्षता वाली पीठ ने आईपीसी की धारा 377 को बरकरार रखने वाले सुप्रीम कोर्ट के साल 2013 के आदेश पर पुनर्विचार करने का फैसला किया है और मामला बड़ी बेंच को रेफर कर दिया है।

Previous Judgement

- 2 जुलाई 2009 को नाज फाउंडेशन की याचिका पर सुनवाई करते हुए दिल्ली हाईकोर्ट ने अपने फैसले में कहा कि दो वयस्क यदि आपसी सहमति से एकांत में समलैंगिक संबंध बनाते हैं तो इसे आईपीसी की धारा 377 के तहत अपराध नहीं माना जाएगा।
- लेकिन 2013 में सुप्रीम कोर्ट ने इस आदेश को पलट दिया था। सुप्रीम कोर्ट का वह रुख चौंकाने वाला था क्योंकि वह समाज के प्रगतिशील और आधुनिक सोच से मेल नहीं खाता था। पिछले एक-दो दशकों में दुनिया भर के विकसित देशों में सेक्शुअल माइनॉरिटीज को अन्य किसी भी नागरिक के बराबर अधिकार और प्रतिष्ठा मिली है और इसमें जुडिशरी का अहम रोल रहा है। इस संदर्भ में दिल्ली हाईकोर्ट का फैसला उत्साहवर्धक था, मगर सुप्रीम कोर्ट से निराशा मिली। इसके बावजूद समलैंगिकों और ट्रांसजेंडर समुदाय को उनका अधिकार दिलाने का अभियान जारी रहा, जिसे अब सुप्रीम कोर्ट ने गंभीरता से लिया है।

What Scientific Research says

वैज्ञानिक रूप से यह सिद्ध हो चुका है कि कुछ लोगों की सेक्शुअल चॉइस कुदरती तौर पर अलग होती है। कुछ लोगों के जननांग विकसित नहीं होते, सिर्फ इसके लिए समाज उनसे कोई संबंध नहीं रखना चाहता। इन सभी लोगों के यौन आचरण को धर्म और समाज विरुद्ध बताया जाता रहा है और अंग्रेजी राज में उनके खिलाफ कानून भी बना दिए गए। लेकिन गौर से देखें तो ये सामाजिक दुराग्रह कहीं न कहीं उत्पादन संबंधों से जुड़े हुए हैं। ज्यादातर धर्मों और मान्यताओं की शुरुआत इंसान के कबीलाई युग से निकलकर खेतिहर युग में आने के साथ हुई।

स्त्री-पुरुष संतान पैदा करके कृषि कार्य के लिए मानव संसाधन उपलब्ध कराते हैं, लिहाजा संतानोत्पत्ति को सभी धर्मों का एक मूल तत्व मान लिया गया। सेक्शुअल माइनॉरिटीज के लोग संतान पैदा करने में समर्थ नहीं थे, यानी वे उत्पादन प्रक्रिया से बाहर थे, और यह डर भी था कि उनके संपर्क में आकर कहीं और लोग भी संतानोत्पत्ति के पवित्र कर्तव्य से विमुख न हो जाएं, इसलिए हर जगह उन्हें तिरस्कृत किया गया। जब-तब वे बधाइयां लेने आते रहे, या किसी के सेक्स स्लेव बनकर जीते रहे। लेकिन अब समय के साथ उत्पादन संबंध भी बदल गए हैं। व्यक्ति की निजता और स्वतंत्रता अभी सबसे बड़ा सामाजिक मूल्य है। दो व्यक्ति बिना किसी को नुकसान पहुंचाए, आपसी रजामंदी से अपने निजी दायरे में कुछ भी करें, समाज और कानून को इस पर आपत्ति क्यों होनी चाहिए?

5. किसी भी खाप या व्यक्ति को बालिग लड़के-लड़की की शादी पर सवाल उठाने का हक नहीं : सुप्रीम कोर्ट

सुप्रीम कोर्ट ने अंतरजातीय या गोत्र के भीतर विवाह करने वाले युवक-युवतियों पर किसी भी तरह के हमले को गैर-कानूनी बताया है. चीफ जस्टिस दीपक मिश्रा की अध्यक्षता वाली बेंच ने कहा, **‘अगर कोई बालिग लड़का और लड़की शादी करता है तो कोई खाप पंचायत, व्यक्ति या समाज उन पर सवाल नहीं उठा सकता.’** शीर्ष अदालत एनजीओ ‘शक्ति वाहिनी’ की याचिका पर सुनवाई कर रही है. इसमें ऑनर किलिंग (परिवार के कथित सम्मान के नाम पर हत्या) रोकने के लिए केंद्र और राज्य सरकारों को निर्देश देने की मांग की गई है.

- सुप्रीम कोर्ट ने अंतरजातीय विवाह करने वाले युवक-युवतियों की हत्या और उत्पीड़न को रोकने के लिए न्यायमित्र राजू रामचंद्रन द्वारा दिए गए सुझावों पर केंद्र से जवाब मांगा है.
- अदालत ने यह भी कहा कि अगर केंद्र ने खाप पंचायतों को रोकने के लिए कोई कदम नहीं उठाया तो फिर उसे कोई कदम उठाना पड़ेगा.
- इससे पहले केंद्र सरकार सुप्रीम कोर्ट से ही खाप पंचायतों द्वारा महिलाओं के खिलाफ किए जाने वाले अपराधों की निगरानी के लिए कोई व्यवस्था बनाने की अपील कर चुकी है. केंद्र ने यह भी कहा था कि पुलिस ऐसे मामलों में महिलाओं को सुरक्षा दे पाने में सक्षम नहीं है. खाप पंचायत गांवों में जाति या समुदाय आधारित संगठन होते हैं. ये अर्द्ध न्यायिक संस्था की तरह काम करते हैं और परंपराओं के आधार पर फैसले सुनाते हैं.

6. अराजकता के विरुद्ध : खाप

वैवाहिक मामलों में सुप्रीम कोर्ट ने खाप पंचायतों के खिलाफ कड़ा रुख अपनाया है। उसने कहा कि खाप पंचायत या कोई भी व्यक्ति या संगठन अगर किसी बालिग लड़के-लड़की को शादी करने से रोकता है या किसी भी रूप में शादी का विरोध करता है तो यह गैरकानूनी है।

- ✚ खाप पंचायतों के खिलाफ सख्त कार्रवाई न करने के लिए कोर्ट ने सरकार को फटकार लगाई और कहा कि अगर केंद्र सरकार इन पर प्रतिबंध लगाने में सक्षम नहीं है तो अदालत को ही कदम उठाने होंगे।
- ✚ सुप्रीम कोर्ट एनजीओ ‘शक्ति वाहिनी’ की याचिका पर सुनवाई कर रहा है, जिसमें ऑनर किलिंग जैसे मामलों पर रोक लगाने के लिए गाइडलाइन बनाने की मांग की गई है।

यह निश्चय ही देश के अनेक सामाजिक कार्यकर्ताओं और तमाम तरक्कीपसंद लोगों की जीत है, जो खाप पंचायतों की अंधेरगर्दी के खिलाफ लंबे समय से संघर्षरत रहे हैं।

हरियाणा, उत्तर प्रदेश और देश के कुछ अन्य राज्यों में सक्रिय ये खाप पंचायतें तमाम नियम-कानूनों की धजियां उड़ाते हुए आए दिन अजीबोगरीब आदेश जारी करती रहती हैं। पिछले कुछ सालों से इन्होंने प्रेम विवाह करने वाले युवा जोड़ों को अपना निशाना बना रखा है। इन पर युवाओं को प्रताड़ित करने, उनके खिलाफ मौत का फरमान जारी करने और लोगों को उनकी हत्या के लिए उकसाने के आरोप लगे हैं। दरअसल ज्यादातर मामलों में इन पंचायतों की सोच मध्ययुगीन है और सामाजिक बदलाव को ये स्वीकार नहीं करतीं। खासकर स्त्री की आजादी को तो ये बिल्कुल बर्दाश्त नहीं कर पातीं। विडंबना यह है कि

प्रशासन इनकी हरकतों पर प्रायः मूकदर्शक बना रहता है। राजनीतिक नेतृत्व इन पंचायतों से टकराव में जाने से बचता है क्योंकि इनके प्रतिनिधि कुछ सामाजिक समूहों पर काफी प्रभाव रखते हैं, जो चुनावी गणित को प्रभावित कर सकते हैं।

राजनेताओं को लगता रहा है कि लोग पंचायतों की बातों को आंख मूंदकर मानते हैं, पर सचाई यह है कि लोग अलग-थलग पड़ जाने के भय से इनके खिलाफ बोलने से बचते हैं। यही वजह है कि इनकी मनमानी ज्यादातर मामलों में चल जाती है। कुछ नौजवानों को समाज का विरोध झेलना पड़ा, कुछ को जान से हाथ धोना पड़ा। लेकिन समाज के प्रबुद्ध वर्ग द्वारा बार-बार आवाज उठाने के बाद अदालत ने अपने स्तर पर पहल की। अगर जुडिशरी इस मामले में आगे नहीं आती तो इन पर शिकंजा कसना लगभग नामुमकिन था। यह सिलसिला आगे भी जारी न रहे, इसके लिए सरकार को वक्त की नजाकत को भी समझना चाहिए। एक जनतांत्रिक व्यवस्था में कोई भी संस्था कानून और संविधान से ऊपर नहीं हो सकती। कोर्ट की व्यवस्था को जमीन पर उतारते वक्त यह नहीं भूलना चाहिए कि घरों की चारदीवारी के भीतर भी कई लोग खाप पंचायत की मानसिकता लिए बैठे हैं। सरकार को अपनी मर्जी से शादी करने वाले बालिगों की सुरक्षा के लिए कोई ठोस सिस्टम बनाना होगा।

6. न्यायपालिका को न्याय की तलाश

Supre Court के चार वरिष्ठतम न्यायाधीशों ने शुक्रवार को सार्वजनिक रूप से एक अप्रत्याशित बात कही कि देश के प्रधान न्यायाधीश संवेदनशील मसलों को गलत तरीके से संभाल रहे हैं और इससे देश की सर्वोच्च अदालत की सत्यनिष्ठा खतरे में है। उन्होंने जनता को यह असाधारण संदेश दिया कि वे अपनी 'आत्मा को बेचना' नहीं चाहते और अगर इस संस्थान को बचाया नहीं गया तो देश में लोकतंत्र की रक्षा खतरे में पड़ जाएगी।

- ❖ देश के प्रधान न्यायाधीश के अलावा यही चार न्यायाधीश मिलकर देश के सर्वोच्च न्यायालय के कॉलेजियम में आते हैं। कॉलेजियम वह प्रमुख निर्णय लेने वाली संस्था है जो उच्च न्यायपालिका की नियुक्तियों और स्थानांतरणों के निर्णय लेती है।
- ❖ उन्होंने यह आरोप भी लगाया कि प्रधान न्यायाधीश बार-बार हस्तक्षेप करके यह सुनिश्चित करते हैं कि केवल उनकी पसंद के न्यायाधीश ही मामलों की सुनवाई करें।
- ❖ उन्होंने Memorandum of Procedure को अंतिम रूप देने में हो रही देरी की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया। यह मेमोरैंडम ही वे दिशानिर्देश मुहैया कराता है जिनके आधार पर कॉलेजियम की भविष्य की नियुक्तियां पारदर्शी और पात्रता पर आधारित हों

All eyes on Chief Justice of India

अब जबकि यह मामला सार्वजनिक हो गया है तो सारा दारोमदार प्रधान न्यायाधीश पर है। अगर उनके चार वरिष्ठतम साथी (जिन्हें विधिक दायरे के लोग संयमी बताते हैं) ऐसा अतिरंजित कदम उठाने और एक दुर्लभ नजीर पेश करने पर मजबूर हुए तो इसका मोटे तौर पर यही मतलब हुआ कि शीर्ष पर बैठा व्यक्ति कुछ तो गलत कर रहा है और अपने साथियों को साथ लेने में नाकाम रहा है। अब उनके लिए वक्त है कि वे आत्मावलोकन करें। विभिन्न पीठों के लिए न्यायाधीश चयन के लिए एक तय प्रक्रिया का पालन होना चाहिए। अगर ऐसी प्रक्रिया नहीं है या मौजूदा मानकों में कमियां हैं तो कॉलेजियम को उस मसले को हल करना चाहिए और मुख्य न्यायाधीश को चाहिए कि वह इस काम में अपने साथियों की मदद लें। किसी को भी प्रशासनिक विशेषाधिकार नहीं होने चाहिए।

Roster Preparation and Chief Justice

देश के प्रधान न्यायाधीश को यकीनन रोस्टर तय करने का अधिकार है। चारों न्यायाधीशों ने भी कहा है कि यही व्यवस्था है। परंतु उनका आरोप है कि प्रधान न्यायाधीश तय मानकों से इतना दूर निकल गए हैं कि इसके काफी अवांछित परिणाम हो सकते हैं। अगर ऐसा हुआ तो स्वयं संस्थान की प्रतिष्ठा संदेह के घेरे में आ जाएगी। अंतरिम व्यवस्था की बात करें तो सर्वोच्च न्यायालय को सार्वजनिक रूप से ऐसा उचित संकेत देना चाहिए कि सारे मामले हल हो गए हैं। न्यायाधीशों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि वे खुद ही बंटे हुए नहीं रह सकते और वे देश को नीचा भी नहीं दिखा सकते। यह अच्छी बात है कि अपने कष्टों सार्वजनिक करने के एक दिन बाद दो न्यायाधीश कह चुके हैं कि किसी बाहरी हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं है और संस्थान स्वयं जरूरी कदम उठाकर संकट हल करेगा।

यह बात महत्वपूर्ण है क्योंकि देश की सबसे बड़ी अदालत में अगर मतभेद होता है तो इससे राजनेताओं को न्यायपालिका की स्वायत्तता में हस्तक्षेप करने का अवसर मिलेगा। सरकार और विपक्ष अगर इस मुद्दे से दूर रहें तो बेहतर होगा। सरकार को मेमोरंडम ऑफ प्रोसीजर की गति तेज करनी चाहिए जिसकी 10 महीने से प्रतीक्षा है। इस प्रकरण का असर देश के अगले प्रधान न्यायाधीश के चयन पर नहीं पड़ना चाहिए। हमारे सांविधिक और सार्वजनिक प्रतिष्ठानों में पराभव का मसला अलग है। इसकी वजह से ही हमारा देश एक संप्रभु राष्ट्र के रूप में बुनियादी काम तक कर पाने में नाकाम है। अब वक्त आ गया है। अगर देश को 21वीं सदी में मजबूती और स्थायित्व के साथ आगे बढ़ना है तो संस्थागत सुधारों की इसमें अहम भूमिका है।

8. लोकतंत्र की रक्षा के लिए

In one voice



Justices Kurian Joseph, Jasti Chelameswar, Ranjan Gogoi and Madan B. Lokur (from Left) during a press conference in New Delhi on Friday. • B.V. MOORTHY

There have been instances where cases having far-reaching consequences for the nation and the institution had been assigned by the Chief Justice of this Court selectively to the Benches "of their preferences" without any rational basis for such assignment. This must be guarded against at all costs. THE JUDGES' LETTER TO THE CJI

Justice Jasti Chelameswar

It is with no pleasure that we have been compelled to do this, administration of Supreme Court is not in order... many less than desirable things have taken place

We owe a responsibility to the institution and the nation. Our efforts have failed in convincing the CJI to take steps to protect the institution

We all (four judges) are convinced that unless this institution is preserved and (is allowed to) maintain its equanimity, democracy will not survive in this country or any country

Justice Ranjan Gogoi

It is discharge of debt to the nation which has brought us here

In an unprecedented act, four senior judges of the Supreme Court on Friday held a press conference and publicly accused CJI of selectively assigning cases to judges of his choice without any rational basis

वैश्विक स्तर पर आज लोकतंत्र पर जब पुनर्विचार किया जा रहा है, भारत में लोकतंत्र की रक्षा की चिंता कम बड़ी बात नहीं है। भारतीय लोकतंत्र रुग्णावस्था में है और लोकतांत्रिक संस्थाओं को नष्ट करने की प्रक्रिया जारी है। सुप्रीम कोर्ट के चार वरिष्ठ न्यायाधीशों- जस्टिस जे चेलमेश्वर, जस्टिस एमबी लोकुर, जस्टिस रंजन गोगोई, और जस्टिस कुरियन जोसेफ को जिन कारणों से प्रेस कांफ्रेंस करनी पड़ी, उनकी अनदेखी नहीं की जा सकती।

Why this Conference:

जस्टिस चेलमेश्वर ने कहा कि उन्हें प्रेस कांफ्रेंस करने में कोई खुशी नहीं है। दो महीने पहले उन्होंने मुख्य न्यायाधीश को पत्र लिखकर कहा था कि महत्वपूर्ण केस कनिष्ठ जज को न दिये जायें। प्रेस कांफ्रेंस के दिन मुख्य न्यायाधीश से मिलकर वे न्यायपालिका को प्रभावित करनेवाले मुद्दे उठाये थे, पर मुख्य न्यायाधीश ने उनकी नहीं सुनी। चार वरिष्ठ न्यायाधीशों के समक्ष प्रेस कांफ्रेंस के सिवा कोई विकल्प नहीं था। मुख्य न्यायाधीश के बाद जे चेलमेश्वर दूसरे वरिष्ठतम न्यायाधीश हैं और जस्टिस रंजन गोगोई अक्टूबर 2018 में मुख्य न्यायाधीश बननेवाले हैं। सबकी चिंता सर्वोच्च न्यायालय की छवि की है। यह प्रेस कांफ्रेंस लोकतंत्र की रक्षा और न्यायपालिका की गरिमा बनाये रखने के लिए था। भारतीय न्यायपालिका और सर्वोच्च न्यायालय के लिए 12 जनवरी, 2018 एक ऐतिहासिक तिथि हो गयी है।

Turning point in Judicial History

यह एक 'टर्निंग प्वाइंट' है। इसे सिर्फ न्यायपालिका के अंदरूनी विवाद के रूप में ही नहीं देखा जा सकता। लोकतंत्र के चार स्तंभ भीतर से हिल चुके हैं। विधायिका, कार्यपालिका और प्रेस की लोकतांत्रिक 'निष्ठा' से हम सब अवगत हैं। न्यायपालिका पर समय-समय पर सवाल उठते रहे हैं। पहली बार उसके भीतर से जो आवाज उठी है, उसकी प्रशंसा की जानी चाहिए। विभाजित न्यायपालिका के पीछे के कारणों को देखा जाना चाहिए। पहली बार मुख्य न्यायाधीश पर, उनकी कार्य-पद्धति पर, उनके वरिष्ठ सहयोगियों ने ही प्रश्न खड़े किये हैं, उनके मनमाने कामकाज को सामने रखा गया है।

Public Interest involved in this

जजों के बीच अगर यह चौड़ी खाई बनी है, तो इसके पीछे मुख्य कारण स्वहित और जनहित है। सोहराबुद्दीन मुठभेड़ केस के ट्रॉयल जज लोया की मौत की जांच का मामला न्यायाधीश अरुण कुमार मिश्र को दिया गया, जो वरिष्ठता में दसवें नंबर पर हैं। न्यायिक संकट बाहर का कोई व्यक्ति उत्पन्न नहीं करता। भारतीय न्यायपालिका के इतिहास में पहली बार ऐसा हुआ है कि मुख्य न्यायाधीश पर उनके वरिष्ठ सहयोगियों ने आरोप लगाये हैं। इन्होंने साफ कहा- 'कोई बीस साल बाद यह न कहे कि हमने अपनी आत्मा बेची।' सुप्रीम कोर्ट पर पहले भी सवाल उठते रहे हैं, पर इस बार के सवाल कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। मुख्य न्यायाधीश के 'मास्टर ऑफ दि रोस्टर' होने की बात कही जाती है, पर इन चार जजों ने यह बता दिया है कि वे बराबरी के बीच पहले हैं, न अधिक, न कम।

Master of Roster: Is Acceptable?

- ✓ मुख्य न्यायाधीश द्वारा बिना किसी तर्क और आधार के, अपनी पसंद के अनुसार बेंच गठित करने को केवल इसलिए नहीं स्वीकारा-सराहा जा सकता कि यह उनका विशेषाधिकार है।

- ✓ इन चार जजों ने मुख्य न्यायाधीश को लिखे पत्र में न्यायिक आदेशों से न्याय वितरण प्रणाली के विपरीत रूप से प्रभावित होने की बात कही थी, उच्चतम न्यायालय की आजादी के प्रभावित होने के साथ मुख्य न्यायाधीश के प्रशासनिक कार्य के भी प्रभावित होने का जिक्र किया था. मुख्य न्यायाधीश रोस्टर (जजों में केस और बेंच वितरण) के नियमों की बात कही और इसके विपरीत जाने को 'अवांछनीय' माना. इन जजों के लिए न्यायालय की सत्यनिष्ठा महत्वपूर्ण है. व्यक्ति निष्ठा, सत्ता निष्ठा और सत्यनिष्ठा में सदैव संघर्ष होता रहा है. इन जजों की मुख्य चिंता यह है कि बिना किसी तर्क और आधार के 'देश तथा संस्थान के लिए दूरगामी प्रभाव वाले केस' मुख्य न्यायाधीश ने अपनी पसंद के जजों को दिये. यह न्यायपूर्ण फैसले को प्रभावित करना है. सर्वोच्च न्यायालय के प्रति अभी निष्ठा बची हुई है. वहां मुख्य न्यायाधीश की निजी पसंद का कोई अर्थ नहीं है. मुख्य न्यायाधीश पर लगाये गये गंभीर आरोप इसलिए अधिक महत्वपूर्ण हैं, क्योंकि ये वरिष्ठ जजों द्वारा लगाये गये हैं. न्यायमूर्ति चेलमेश्वर ने कहा है कि भारत सहित किसी भी देश में लोकतंत्र को जीवित रखने के लिए सर्वोच्च न्यायालय जैसी संस्था को सही ढंग से काम करने की जरूरत है. जनतंत्र में 'जन' प्रमुख है, न कि 'तंत्र'. 'तंत्र' 'जन' के लिए है. जब यह तंत्र किसी व्यक्ति विशेष, दल विशेष, विचारधारा विशेष के लिए कार्य करता है, तो जनतंत्र फिर जनतंत्र नहीं रहता.

न्यायाधीशों को भी यह तय करना होगा कि वे किसके साथ हैं? सत्य, नियम, कायदे-कानून के साथ या किसी व्यक्ति और सत्ता-व्यवस्था के साथ? आज सारी टकराहट इन दोनों के बीच है. भारत के 45वें मुख्य न्यायाधीश दीपक मिश्रा के वरिष्ठ सहयोगियों की चिंताएं बड़ी हैं- वह लोकतंत्र, न्याय-प्रक्रिया और सत्यनिष्ठा से जुड़ी हुई है. स्वतंत्र न्यायपालिका का प्रश्न एक बड़ा प्रश्न है. स्वतंत्र न्यायपालिका ही लोकतंत्र की रक्षा कर सकती है.

9. न्यायिक सुधारों के अभाव में देश का आर्थिक विकास (Economic development) प्रभावित हो रहा है

इस बार की आर्थिक समीक्षा जिन कारणों से कुछ खास है उनमें एक कारण यह भी है कि उसमें न्यायिक सुधारों को गति देने पर भी जोर दिया गया है। कारोबारी माहौल सुगम बनाने के लिए यह जरूरी है कि आर्थिक क्षेत्र से जुड़े मामलों का निपटारा तेजी से किया जाए। विवाद निपटाने की सुस्त प्रक्रिया न केवल निवेश को हतोत्साहित कर रही है, बल्कि कर संग्रह का लक्ष्य हासिल करने में भी बाधक बन रही है।

- एक सर्वेक्षण के अनुसार विभिन्न अदालतों और न्यायाधिकरणों में प्रत्यक्ष कर से संबंधित 1.37 लाख और अप्रत्यक्ष कर संबंधी 1.45 लाख मामले लंबित हैं
- इसके चलते 7.58 लाख करोड़ रुपये का राजस्व फंसा हुआ है।
- यह राशि कुल जीडीपी का 4.7 फीसद है। ये आंकड़े स्थिति की गंभीरता को बयान करने के लिए पर्याप्त हैं।
- आर्थिक समीक्षा में न्यायिक सुधारों पर बल देते हुए न केवल कई महत्वपूर्ण सुझाव दिए गए हैं, बल्कि इसे भी रेखांकित किया गया है कि न्यायपालिका और कार्यपालिका को मिलकर समाधान निकालने के लिए आगे आना चाहिए।
- यह कहना कठिन है कि बजट में न्यायिक सुधारों को गति देने वाले कोई प्रावधान होंगे या नहीं, लेकिन यह स्पष्ट है कि यह काम केवल संसाधनों की ही मांग नहीं करता

What to be done?

- न्यायिक तंत्र को सुगम बनाने के लिए संसाधनों की आवश्यकता से इन्कार नहीं, लेकिन सबसे ज्यादा जरूरी है इस दिशा में आगे बढ़ने की इच्छाशक्ति।
- विडंबना यह है कि कार्यपालिका और विधायिका की ओर से तो इच्छाशक्ति का प्रदर्शन किया जा रहा है, लेकिन न्यायपालिका के रवैये से ऐसी प्रतीति कठिनाई से ही होती है कि वह अपने ढांचे में सुधार लाने के लिए प्रतिबद्ध है।

न्यायिक सुधारों को केवल इसलिए ही गति नहीं दी जानी चाहिए कि उनके अभाव में आर्थिक विकास प्रभावित हो रहा है, बल्कि इसलिए भी कि आम जनता की मुश्किलें बढ़ रही हैं। अनुमान है कि करीब तीन करोड़ मुकदमों में लंबित है। यदि प्रति परिवार पांच सदस्य ही गिने जाएं तो एक तरह से 15 करोड़ लोग न्याय के लिए प्रतीक्षारत हैं। तमाम लोग ऐसे मुकदमों में फंसे हुए हैं जो दशकों से लंबित हैं। बेहतर हो कि न्यायपालिका के नीति-नियंत्रण यह समझें कि उनके सहयोग और समर्थन के बिना न्यायिक सुधारों की दिशा में आगे नहीं बढ़ा जा सकता और महज न्यायाधीशों के रिक्त पदों को भरने की मांग के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि न्यायपालिका न्यायिक सुधारों को लेकर गंभीर है। यदि मुकदमों के निपटारे के तौर-तरीके नहीं बदले जाते और तारीख पर तारीख का सिलसिला इसी तरह कायम रहता है तो अदालतों और न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाए जाने से भी अभीष्ट की पूर्ति होने वाली नहीं है। अच्छा होगा कि कार्यपालिका और विधायिका के साथ ही न्यायपालिका आर्थिक समीक्षा का हिस्सा बने न्यायिक सुधार के मसौदे पर चिंतन-मनन करने में और देर न करे। पहले ही बहुत देर हो चुकी है।

10. सरकारी प्राधिकरणों को मुकदमेबाजी का बुखार

सरकार न्यायपालिका पर ऐसे आदेश जारी करने के आरोप लगाती रही है, जिनका अर्थव्यवस्था पर बुरा असर पड़ता है। हाल ही में संसद में पेश की गई आर्थिक समीक्षा में भी कुछ ऐसा ही कहा गया है। लेकिन अदालतों की आवाज नहीं सुनी जाती है क्योंकि वह कानूनी रिपोर्टों में दफन है। सरकार को हाल के सप्ताहों के वे फैसले पढ़ने चाहिए, जिनमें उसे फटकार लगाई गई है।

- सरकार देश में सबसे बड़ी वादी है, जो 14 लाख मामलों यानी कुल मामलों में से 46 फीसदी में पक्षकार है।
- उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों ने बार-बार सरकारी संस्थाओं और सार्वजनिक क्षेत्र की कंपनियों की इस बात को लेकर आलोचना की है कि वे अदालती प्रक्रिया का दुरुपयोग कर रही हैं और छोटे-मोटे मामलों की याचिका उच्चतम न्यायालय तक लेकर जा रही हैं। पिछले एक महीने ही में ऐसी तीन फटकार लगाई गई हैं।
- उच्चतम न्यायालय ने **महाराष्ट्र राज्य वितरण कंपनी बनाम दातार स्वचगियर लिमिटेड** मामले में अपने फैसले में कहा कि इस सरकारी कंपनी का 2004 के मध्यस्थता फैसले के खिलाफ बार-बार याचिका दायर करना 'केवल मामले में नए सिरे से जिरह का प्रयास है, जिसकी मंजूरी नहीं दी जा सकती।'
- न्यायालय ने भारत संघ बनाम सुसका लिमिटेड मामले में रेलवे को फटकार लगाते हुए कहा कि वह 2002 के मध्यस्थता फैसले के तहत तय की गई राशि के भुगतान से बचने के लिए नए और तकनीकी तर्क पेश कर रही है। इस फैसले में कहा गया, 'सरकार को नागरिकों से जुड़े मामलों में एक ईमानदार व्यक्ति की तरह पेश आना चाहिए।'

- उच्चतम न्यायालय ने **मिश्रा ऐंड कंपनी बनाम दामोदर वैली कॉरपोरेशन** मामले में अपने फैसले में फिर से यह बात दोहराई, 'सरकारी संस्थानों को लंबे वाद में नहीं पडना चाहिए और उन मामलों में बड़ी मात्रा में सरकारी पैसा खर्च नहीं करना चाहिए, जिनका निपटान समझा-बुझाकर और बुद्धिमानी से किया जा सकता है।' इस मामले में मध्यस्थता का आवेदन 1986 में किया गया था और फैसला 1991 में सुनाया गया। लेकिन कॉरपोरेशन ने बकाया राशि का भुगतान नहीं किया। इसके बजाय उसने कई वर्षों तक आपत्तियां उठाईं। उच्च न्यायालयों ने भी सरकारी निगमों के खिलाफ कड़े शब्दों का इस्तेमाल किया है।
- दिल्ली उच्च न्यायालय ने भारतीय राष्ट्रीय राजमार्ग प्राधिकरण (एनएचएआई) की एक याचिका पर कहा, 'हमने पाया है कि इस अदालत को पीएसयू मध्यस्थता फैसलों के खिलाफ याचिकाएं दायर करके पाट देंगी, जो यह चाहती हैं कि मध्यस्थ के फैसले पर फिर से विचार किया जाए। इस तरह के मुकदमे मध्यस्थता अधिनियम बनाने के मकसद ही खत्म कर देते हैं... और वे मूल रूप से इस अदालत को मध्यस्थता अधिकरण के फैसले के खिलाफ अपील वाली अदालत में बदलना चाहते हैं। न्यायालय ने एनएचएआई पर 'अनुचित आपत्तियों' को लेकर जुर्माना लगाया।

इस फटकार के बावजूद एनएचएआई की पिछले एक सप्ताह एक अन्य मामले में और बदनामी हुई। इस मामले में उच्च न्यायालय ने कहा कि मध्यस्थता अधिकरण के फैसलों के खिलाफ बार-बार अपील, विशेष रूप से सरकारी कंपनियों की तरफ से दायर अपीलों से 'मध्यस्थता की भूमिका नागरिक सुनवाई तक सीमित रह गई है।' मुकदमों की फेहरिस्त बढ़ाने में सरकारी प्राधिकरणों काफी हद तक जिम्मेदार हैं। ये अदालत का वह कीमती समय बेकार कर रहे हैं, जिसका इस्तेमाल ज्यादा अहम विवादों को निपटाने में किया जा सकता है।

- अदालत के निशाने पर उस समय आयकर प्राधिकरण भी आए, जब दिल्ली उच्च न्यायालय ने एस सी जॉनसन प्रॉडक्ट्स को फिर से आकलन के लिए जारी चार नोटिस रद्द कर दिए। अदालत ने कहा कि ऐसी कोई सामग्री नहीं थी, जो कई वर्षों बाद पुनर्आकलन को जरूरी बनाती हो। बंबई उच्च न्यायालय ने पिछले महीने केंद्रीय उत्पाद शुल्क प्राधिकरणों पर 1 लाख रुपये का जुर्माना लगाया। प्राधिकरण को कहा गया कि वह याचिकाओं (सीसीई बनाम महिंद्रा ऐंड महिंद्रा) में तकनीकी मसले उठाने के बजाय अपीलीय न्यायाधिकरणों के फैसले को 'ससम्मान स्वीकार' कर ले।
- अदालत ने कहा कि राजस्व प्राधिकरणों ने गैर-जरूरी और तय समयवधि के बाद अपील दायर की हैं और अदालत का समय बरबाद किया है। इस व्यवहार के लिए दंडित किया जाना चाहिए। उच्चतम न्यायालय की फटकारों और सरकार के प्रयासों के बावजूद जो चीज खत्म होने का नाम नहीं ले रही है, वह सरकारी निगमों के बीच का झगड़ा है। नॉर्दर्न कोलफील्ड्स लिमिटेड और हैवी इंजीनियरिंग कॉरपोरेशन मामले में अपने फैसले में अदालत उस हठ पर खेद जताया, जिसके साथ दोनों कई वर्षों से मुकदमा लड़ रही हैं।

हाल में केंद्रीय उत्पाद एवं सीमा शुल्क बोर्ड और राजस्व विभाग ने उच्च न्यायालयों में याचिका दायर करने के लिए 20 लाख रुपये जैसी मौद्रिक सीमाएं तय की हैं। ऐसे कदमों से बेकार के मुकदमों में मामूली ही कमी आई है। ऐसी स्थितियों के लिए कानूनी विभागों में कहावती आलस्य ही जिम्मेदार नहीं है। ऐसे मामलों में बड़ी मात्रा में पैसा भी इधर-उधर होता है, जिसका पता ऐसे मामलों से जुड़ी कानूनी कंपनियों से लगाया जा सकता है। अमूमन आम लोग कानूनी पेशे में ऐसे ही वकीलों से मिल पाते हैं, जो उन्हें हर्जाना दिलाने के लिए उनका मुकदमा लड़ते हैं। लेकिन जब मामले सरकारी मोटी रकम के होते हैं तो मुकदमेबाजी में सरकारी निगम घसीटे जाते हैं।

10. साफ-सुथरे लोकतंत्र के लिए पहल :SC Judgement on Electoral Reform

Context

सर्वोच्च अदालत ने चुनाव सुधारों के लिये महत्वपूर्ण कदम उठाते हुए प्रत्याशियों के लिये अपने व पत्नी तथा आश्रित संतानों की संपत्ति और इसके स्रोत की घोषणा अनिवार्य करने की व्यवस्था देकर आय छिपाने वाले लोगों को बहुत बड़ा झटका दिया है। यह निर्णय निचले स्तर से लेकर संसद तक के लिये चुनावों की पवित्रता बनाये रखने दिशा में एक और महत्वपूर्ण कदम है।

Why this Step?

- विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं पर संसद या विधानमंडल के लिये निर्वाचित होने के बाद उनके अचानक ही दौलतमंद बनने और आय से अधिक संपत्ति अर्जित करने के आरोप लगते रहे हैं। इसलिए न्यायालय चाहता है कि सांसदों और विधायकों के पास अगर आय के ज्ञात स्रोत से अधिक संपत्ति का पता चलता है तो उन्हें चुनाव लड़ने के अयोग्य घोषित करने के लिये कानून बनाया जाये।
- इसी तरह, संबंधित कानून और चुनाव कराने संबंधी नियमों में संशोधन करने तथा फार्म 26 से आय के स्रोत और किसी सरकारी एजेन्सी या सार्वजनिक उपक्रम में प्रत्याशी या उसकी पत्नी या आश्रितों के पास कोई ठेका होने संबंधी जानकारी देने का भी प्रावधान जोड़ने का निर्देश दिया है।
- न्यायमूर्ति जे. चेलामेश्वर की अध्यक्षता वाली एक पीठ ने हाल ही में गैर सरकारी संगठन लोक प्रहरी की जनहित याचिका पर अपने फैसले में स्पष्ट शब्दों में कहा, 'ऐसे व्यक्ति सभी अच्छी सरकारों के दुश्मन हैं और उन्हें विधायी मंडलों की सदस्यता के अयोग्य घोषित किया जाना चाहिए।'
- इस संबंध में न्यायालय ने स्पष्ट किया है कि यदि निर्वाचित प्रतिनिधि, उसकी पत्नी तथा आश्रित बच्चों की संपत्ति में आय के ज्ञात स्रोत से अधिक वृद्धि होती है तो इसका यही निष्कर्ष निकलेगा कि निर्वाचित प्रतिनिधि ने अपने पद का दुरुपयोग किया है। इतना तो निश्चित है कि निर्वाचित सदस्य इस बिन्दु पर अयोग्यता के प्रावधान के लिये कानून में संशोधन के प्रयास का वैसा ही विरोध करेंगे जैसा कि निर्वाचित प्रतिनिधियों को दो साल से अधिक की सजा होने की स्थिति में उनकी सदस्यता तत्काल प्रभाव से समाप्त होने संबंधी व्यवस्था को निष्प्रभावी बनाने के लिये किया गया था।

Some fact in tis regard

- इस मामले में केन्द्रीय प्रत्यक्ष कर बोर्ड द्वारा न्यायालय को दी गयी जानकारी में 98 विधायक और लोकसभा के सात सांसद घोषित संपत्ति में पहली नजर में विसंगतियां होने की वजह से जांच के दायरे में थे।
- राज्यसभा के नौ सदस्यों और 42 विधायकों के मामलों की जांच लंबित थी। हालांकि लोकसभा के 19, राज्यसभा के दो सांसदों और 117 विधायकों की संपत्ति की कीमत और उनकी आय के स्रोत में कोई विसंगति नहीं मिली थी। प्रत्यक्ष कर बोर्ड ने जांच के दायरे में आने वाले लोकसभा के 26, राज्यसभा के 11 सदस्यों और 257 विधायकों की सूची सीलबंद लिफाफे में न्यायालय को सौंपी थी। यह पहला अवसर नहीं है जब शीर्ष अदालत ने चुनाव प्रक्रिया में सुधार के लिये इस तरह का कड़ा कदम उठाया है। न्यायालय ने दो मई, 2002 को दिल्ली उच्च न्यायालय के फैसले के खिलाफ केन्द्र सरकार की अपील पर निर्वाचन आयोग को निर्देश दिया था कि वह संविधान के अनुच्छेद 324 में प्रदत्त अधिकार का इस्तेमाल करके प्रत्याशियों से हलफनामे में उन्हें किसी अपराध में दोषी ठहराये

जाने के बाद यदि सजा हुई है, तो उसका ब्योरा और अदालत में आपराधिक मामला, यदि कोई हो, तो उसका ब्योरा देने को कहा गया। इसके अलावा प्रत्याशी से उसकी चल-अचल संपत्ति, बैंक में जमा राशि और सरकार अथवा वित्तीय संस्थानों की किसी प्रकार की देनदारी तथा शैक्षणिक योग्यता की जानकारी मांगने का निर्देश दिया था।

- इसी तरह, नामांकन पत्र में पत्नी के नाम वाला तथा अन्य स्थान रिक्त छोड़ने की प्रवृत्ति पर अंकुश लगाते हुए न्यायालय कह चुका है कि नामांकन पत्र का कोई भी स्थान रिक्त नहीं छोड़ा जाना चाहिए और यदि इसमें गलत जानकारी दी तो ऐसी स्थिति में नामांकन रद्द हो जायेगा। यही नहीं, नामांकन के साथ हलफनामे में गलत जानकारी देना भी आपराधिक कृत्य है। इसके लिये कानूनी कार्रवाई की जा सकती है। फैसले में इस तरह की व्यवस्था निर्वाचित होने वाले सांसदों और विधायकों को भ्रष्ट आचरण अपनाने से दूर रहने के लिये सजग करती रहेगी। यदि अगले चुनाव में दिये गये विवरण पिछले चुनाव के समय दी गयी जानकारी में बहुत अधिक विसंगति हुई तो निश्चित ही ऐसे मामले न्यायिक समीक्षा के दायरे में भी आयेंगे।

TheCOREIAS TEST SERIES (Both Hindi & English Medium)

- GS TEST Series
- Geography Optional
- History Optional
- Hindi
- Essay

11. न्यायिक अनुशासन की जरूरत

गत 21 फरवरी को न्यायमूर्ति मदन बी. लोकुर की अध्यक्षता वाली एक तीन-सदस्यीय खंडपीठ ने गत आठ फरवरी को न्यायमूर्ति अरुण मिश्र की अध्यक्षता वाली तीन-सदस्यीय पीठ द्वारा दिए गए निर्णय को मानने से इन्कार कर दिया। यह भूमि अधिग्रहण से जुड़ा एक मामला था। न्यायमूर्ति मिश्र की खंड पीठ ने 2014 में पुणे नगर निगम वनाम हरकचंद मिसरीमल सोलंकी में न्यायमूर्ति आर. एम. लोढा की अध्यक्षता वाली एक तीन-सदस्यीय खंड पीठ के निर्णय को कानून के ज्ञान के बिना लापरवाही में दिया गया करार दिया। उस पीठ में न्यायमूर्ति लोकुर भी थे। ऐसा लगता है कि न्यायमूर्ति लोकुर तथा न्यायमूर्ति मिश्र के बीच असहजता कुछ ज्यादा बढ़ गई है, जो निर्णयों में परिलक्षित हो रही है। उल्लेखनीय है कि गत 12 जनवरी को जिन चार न्यायाधीशों ने संवाददाता सम्मेलन कर मुख्य न्यायाधीश की कार्यशैली पर सवाल उठाए थे, उनमें न्यायमूर्ति लोकुर शामिल थे।

न्यायिक अनुशासनहीनता संशय एवं अनिश्चितता को जन्म देती है। कानून बनाने के पीछे एक महत्तर उद्देश्य किसी विषय पर संशय खत्म कर निश्चितता लाना है। फिर भी संशय बना रहता है, जिसे अदालत दूर करती है और अंत में निश्चयात्मकता उच्चतम न्यायालय के निर्णयों से आती है, जो व्याख्या के जरिये व्यवस्था देता है और कानून के अंदर की दरारों को पाटने का काम करता है। यदि सर्वोच्च अदालत ऐसा नहीं करती है और विभिन्न स्तरों में बोलती है, तो इससे विपदा आएगी। दुर्भाग्यवश ऐसा ही हो रहा है, क्योंकि अदालत की भिन्न-भिन्न पीठें एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत फैसले दे रही हैं।

Why this decline in Jurisprudence

- ❖ न्यायिक सामूहिकता के क्षरण का कारण यह है कि अभी एक उच्चतम न्यायालय नहीं, वरन उतने न्यायालय हैं, जितनी की उसकी पीठें हैं जो अभी 13 हैं।
- ❖ अलग-अलग पीठों द्वारा दिए गए फैसले अलग-अलग दिशाओं में जाते हैं, जिनमें कोई सुसंगति नहीं है। इस खतरे को अमेरिकी सुप्रीम कोर्ट के न्यायमूर्ति फेलिक्स फ्रैंकफर्टर ने उसी समय भांप लिया था, जब संविधान का निर्माण किया जा रहा था। उन्होंने संविधान सभा के सांविधानिक सलाहकार बी एन राव को सलाह दी थी कि देश की सर्वोच्च अदालत को पूर्ण पीठ के रूप में बैठना चाहिए, खंडपीठों में नहीं।
- ❖ प्रारंभिक वर्षों में ऐसा ही हुआ, पर धीरे-धीरे उच्चतम न्यायालय एक प्रकार से कोर्ट ऑफ अपील बन गया और उसने हर तरह के निर्णयों के खिलाफ अपीलों को स्वीकार करना शुरू कर दिया, जिनमें कोई गंभीर कानूनी या सांविधानिक मसला नहीं होता है। अब संविधान पीठों का गठन छठे-छमासे होता है और जब होता है तब पांच या सात जजों की पीठ होती है। अब तक की सबसे बड़ी पीठ केशवानंद भारती (1973) में 13 न्यायाधीशों की बनी थी जब उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या 14 थी। फैसले सरल, स्पष्ट एवं संक्षिप्त होने चाहिए, जिसे कोई आसानी से समझ सके। जरूरत न्यायिक अनुशासन एवं न्याय बोध की है। ऐसा न होने से संस्था को चोट पहुंचती है और उसका शिकार आम आदमी होता है।

12. दलते समाज में अप्रासंगिक होते कानून section 497 of IPC

हाल में देश की सर्वोच्च अदालत के समक्ष एक बड़ा ही रोचक और महत्वपूर्ण मामला पहुंचा, जिसमें याचिकाकर्ता ने भारतीय दंड संहिता की धारा 497 को हटा देने की मांग की। अदालत ने याचिका की सुनवाई करते हुए कहा कि अब समय आ गया है कि समाज इस बात को स्वीकार करे कि महिला को पुरुष के समान दर्जा मिल चुका है।

Gender Neutrality aspect missing

- ❖ इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि आपराधिक प्रक्रिया संहिता की धारा 198 (1) और (2) के अनुसार केवल पुरुष के विरुद्ध ही व्यभिचार जैसे अपराध के लिए शिकायत की जा सकती है, महिला के विरुद्ध नहीं, क्योंकि उसे केवल शोषित ही माना जा सकता है।
- ❖ दूसरी स्त्री के प्रति आकर्षित होकर जब कोई पति अपनी पत्नी का परित्याग कर देता है तो पत्नी उस दूसरी स्त्री की कोई शिकायत नहीं कर सकती, क्योंकि हमारे कानून के अनुसार इस मामले में स्त्री पीड़िता मानी जाती है, दोषी नहीं।
- ❖ पत्नी की बेवफाई की शिकायत पति भी नहीं कर सकता, क्योंकि यहां भी स्त्री पीड़िता मानी जाती है। व्यभिचार का शिकार भी वही होती है और शोषिता भी वही मानी जाती है और वही पुरुष के विरुद्ध शिकायत भी कर सकती है।

Some cases in Court

इस संबंध में सर्वोच्च न्यायालय के दो बड़े पुराने निर्णयों के उदाहरण देना आवश्यक होगा। 1985 में सौमित्र विष्णु ने अपनी स्वेच्छाचारी पत्नी को सजा दिलाने के लिए कोर्ट का दरवाजा खटखटाया था। इसी तरह 1988 में एक अन्य मामले में सर्वोच्च न्यायालय के सामने यह प्रश्न आया कि क्या पत्नी की गुहार पर न्यायालय पति की बेवफाई पर उसके संसर्ग में आने वाली महिला को सजा दे सकता है? दोनों ही मामलों में अदालत ने कानूनी व्याख्या की कि 'कोई भी पत्नी अपने पति को विवाहेत्तर संबंधों के लिए दंड नहीं दिलवा सकती, क्योंकि इस अपराध के होने से प्रभावित होने वाली भी स्त्री होती है और वह शोषित मानी जाती है।

हालांकि यह तलाक लेने के लिए एक कारण हो सकता है। जस्टिस ठक्कर और जस्टिस चंद्रचूड़ के दोनों फैसलों का आधार मनोविज्ञान था। यद्यपि कानून ने अपने तरीके से व्याख्या की थी कि जहां संबंध कुछ रह ही न गया हो वहां किसको किस बात की सजा दी जाए। 2011 में भी जस्टिस आफताब आलम और आरएस लोढ़ा की खंडपीठ ने कल्याणी के. शैलजा के विरुद्ध दायर याचिका को खारिज करते हुए माना था कि उस पर धारा 497 का केस नहीं बनता, क्योंकि यहां भी तर्क यही था कि महिला के विरुद्ध व्यभिचार का मामला नहीं बनता, किंतु ताजा मामले में जस्टिस दीपक मिश्र की खंडपीठ ने दो बिंदुओं पर चर्चा करने के लिए नोटिस जारी किया है।

- पहला, धारा 497 के अनुसार क्यों पुरुष को दोषी और महिला को पीड़िता माना जाए?
- दूसरा, व्यभिचार का दोष उस समय क्यों समाप्त हो जाता है जब महिला के पति की स्वीकारोक्ति प्रमाणित हो जाए और क्या आज भी यह माना जाता रहे कि महिला पति की संपत्ति है, जिसके पास अपना दिमाग नहीं है?

सुप्रीम कोर्ट ने माना है कि धारा 497 महिलाओं की स्वतंत्र अस्मिता पर तब बड़ा प्रश्नचिह्न लगाती है जब यह कहा जाता है कि यदि पति की सहमति प्रमाणित हो जाए तो व्यभिचार अपराध नहीं माना जाएगा। इससे तो महिला का दर्जा पति की पथगामिनि के अतिरिक्त कुछ अधिक नहीं रह जाता, जबकि आज महिलाओं की वैसी स्थिति नहीं है। जस्टिस चंद्रचूड़ ने इसे संविधान के अनुच्छेद 15 का उल्लंघन माना

और प्रश्न उठाया कि क्या यदि पति चाहे तो पत्नी व्यभिचार कर सकती है? ऐसे में तो उसका व्यवहार सिर्फ पति की इच्छा का मोहताज है या फिर यह कहा जाए वह आज भी मात्र एक वस्तु ही है। यहां यह बात भी उल्लेखनीय है कि इसी सर्वोच्च अदालत ने 1954, 1985 और 1988 में धारा 497 की वैधता को स्वीकार किया था।

Are these relevant in present times

आज के संदर्भ में बड़ी बात जो अदालत मान रही है वह यह कि समाज की तस्वीर बदल रही है। आज लिव-इन रिलेशन को भी मान्यता मिल रही है और इसके तहत रह रही महिलाएं बिना विवाह के भी अपने अधिकार मांगने के लिए खड़ी हो रही हैं। इसी सर्वोच्च न्यायालय ने बीते सालों में अपने एक निर्णय के तहत लिव-इन रिलेशनशिप में कटुता आने पर एक पार्टनर और उसके बच्चों को भरण-पोषण का अधिकार दिया था। जाहिर है कि अदालतें कानून नहीं बनातीं, बल्कि केवल उनकी व्याख्या करती हैं। महिलाओं के प्रगतिशील स्वरूप के अनुरूप ही घरेलू हिंसा रोधी कानून बना। महिलाओं ने ही विवाह न करके लिव-इन रिलेशन स्वीकार किए। हालांकि कोर्ट ने ऐसी महिलाओं को पत्नी का दर्जा नहीं दिया, लेकिन पति-पत्नी की तरह के रिश्ते को अवश्य माना। कुल मिलाकर अब समय आ गया है कि हम अपने पुराने और अनावश्यक हो चुके कानूनों से मुक्ति पा लें। सर्वोच्च न्यायालय ने एक पहल की है कि हम अपनी सोच बदलें। यह जिम्मेदारी केवल अदालतों की नहीं है, पूरी सामाजिक व्यवस्था की है। तीन तलाक के बहुचर्चित प्रसंग के बाद यह बहुत संगत है कि हम अपनी उन प्रथाओं पर भी एक नजर डालें जो कालांतर में कानून बन गईं। केवल मुस्लिम प्रथाएं ही क्यों? विकृतियों के मामले में हिंदू प्रथाएं जैसे-कन्यादान, दहेज आदि भी अपवाद नहीं हैं। प्रथाओं में आए कुछ शब्द अपना अर्थ परंपरा से वहन करते हैं, अलग से उनके कोई मायने नहीं होते। उनके नए अर्थ गढ़े भी जाएं तो वे विकार पैदा कर सकते हैं

13. रबड़ स्टाम्प नहीं राष्ट्रपति

राष्ट्रपति पद की प्रासंगिकता को लेकर पहली बार सवाल नहीं उठ रहे हैं। राष्ट्रपति चुनाव के दौरान हर बार इस तरह के सवाल उठते हैं और इस पद को लेकर नेताओं का अनर्गल आलाप चर्चा में रहता है। चर्चा, बयान और धारणा को तथ्यों की कसौटी पर जांचा-परखा जाना चाहिए, ताकि राष्ट्रपति पद को लेकर संवैधानिक स्थिति का सही ज्ञान हो सके।- राजेंद्र शर्मा

हर बार की तरह इस बार भी राष्ट्रपति चुनाव की प्रक्रिया के दौरान इस पद की प्रासंगिकता पर भी चर्चा जारी है। क्या राष्ट्रपति का कार्य कैबिनेट के निर्णयों पर मुहर लगाना भर है यानी वह 'रबड़ स्टाम्प' है, या फिर देश के प्रथम नागरिक को संविधान ने ऐसी शक्तियां भी प्रदान की हैं, जो इस पद को वाकई सर्वोच्च बनाती हैं।

- संविधान का अनुच्छेद 52 कहता है कि भारत संघ का एक राष्ट्रपति होगा।
- अनुच्छेद 53 कहता है कि भारत संघ की कार्यपालिका की शक्तियां राष्ट्रपति में निहित होंगी।

इसका प्रयोग वह यानी राष्ट्रपति स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के माध्यम से करेगा और पूर्वगामी उपबंध के द्वारा व्यापकता पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना संघ के रक्षा बलों का सर्वोच्च समादेश राष्ट्रपति में विहित होगा तथा उसका प्रयोग विधि के द्वारा विनियमित होगा।

राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद का गठन करता है, जिसका प्रमुख प्रधानमंत्री होता है। आमतौर पर लोकसभा में बहुमत वाले दल या गठबंधन के नेता को प्रधानमंत्री बनाया जाता है। हालांकि जब लोकसभा में किसी भी

दल या गठबंधन के पास स्पष्ट बहुमत नहीं हो तब राष्ट्रपति की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है। यद्यपि संविधान इस बारे में स्पष्ट कुछ नहीं कहता, लेकिन ऐसी परिस्थिति में राष्ट्रपति अपने विवेक से किसी ऐसे नेता को प्रधानमंत्री नियुक्त कर सकता है, जिस पर उसे भरोसा हो कि वह बहुमत साबित कर देगा।

ऐसे में राष्ट्रपति के निर्णय पर कुछेक मर्तबा विवाद भी खड़ा हुआ है। दरअसल, वर्ष 1979 में चौधरी चरण सिंह से लेकर 1998 में अटल बिहारी वाजपेयी की सरकार तक छह बार तत्कालीन राष्ट्रपतियों ने अल्पमत वाले दल के नेता को पीएम नियुक्त किया। इस दौरान देवगौड़ा मात्र 27 एवं चंद्रशेखर महज 61 सांसदों के नेता होने के बावजूद प्रधानमंत्री बने।

अंग्रेजों की सोहबत

दरअसल, भारत में आजादी के बाद संविधान निर्माण के समय राष्ट्रपति पद की परिकल्पना अंग्रेजों की सैकड़ों वर्षों की सोहबत से आई। अन्य लोकतांत्रिक देशों में हेड ऑफ द स्टेट की बात करें तो अमेरिका में राष्ट्रपति सर्वशक्तिशाली होता है, जबकि ब्रिटिश 'हेड ऑफ स्टेट' का पद महारानी को वंशानुगत मिलता है और उसकी स्थिति रबड़ स्टाम्प की-सी होती है।

के.आर.नारायणन का कथन

- भारत के राष्ट्रपति की स्थिति अमेरिका तथा ब्रिटेन के सर्वोच्च पद के बीच की मानी जा सकती है। पूर्व राष्ट्रपति के.आर. नारायणन ने कहा था कि मैं न तो रबर स्टाम्प (महारानी की तरह) और न ही एकजीक्यूटिव (यूएसए प्रेसिडेंट) की तरह कार्य करूंगा, अलबत्ता 'वर्किंग प्रेसिडेंट' रहूंगा। उन्होंने कई मर्तबा अपनी बात को सही साबित भी किया।
- वर्ष 1997 में राष्ट्रपति बनने के बाद उन्होंने इन्द्रकुमार गुजराल सरकार की उत्तरप्रदेश में राष्ट्रपति शासन लगाने की सिफारिश को न सिर्फ पुनर्विचार के लिए लौटा दिया, बल्कि यह भी स्पष्ट कर दिया कि उनके विवेकानुसार यूपी में ऐसे हालात कतई नहीं। इसी तरह, उन्होंने गुजराल सरकार अल्पमत में आई तो 11वीं लोकसभा को भंग भी किया।
- 1998 में उन्होंने अटल बिहारी वाजपेयी के तेरह दलों के गठबंधन को सरकार बनाने का मौका दिया। तो, उन्होंने ही कारगिल युद्ध के समय वाजपेयी को राज्यसभा बुलाकर कारगिल पर चर्चा करने और सभी को विश्वास में लेने को भी कहा। और तो और, उन्होंने वाजपेयी सरकार की बिहार में राष्ट्रपति शासन लगाने की सिफारिश को दो बार पुनर्विचार के लिए लौटा शक्तियों के प्रयोग का बेहतर उदाहरण पेश किया।

राज्यपाल के पत्र का जवाब

यहां उल्लेखनीय यह भी है कि के.आर.नारायणन ने बिहार के तत्कालीन राज्यपाल सुंदरसिंह भंडारी के उस पत्र का भी काफी लंबा और तर्कपूर्ण जवाब भेजा, जिसमें भंडारी ने बिहार में बढ़ते अपराध के आंकड़ों का हवाला देते हुए President rule लगाने की अनुशंसा की थी। नारायणन ने पत्र में तत्कालीन भाजपा शासित एवं अन्य प्रदेशों में राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो के आंकड़ों का ब्योरा देते हुए बिहार में राष्ट्रपति शासन लगाने जैसे हालात न होने की बात भी स्पष्ट कर दी थी।

जैलसिंह का 'पॉकेट वीटो'

उनसे पहले राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने भी अपने कुछ कार्यों से राष्ट्रपति की शक्तियों का आभास कराया था। उन्होंने तो कैबिनेट के प्रस्ताव को पुनर्विचार के लिए लौटाने के अधिकार से भी आगे बढ़कर 'पॉकेट वीटो' का भारतीय लोकतंत्र के इतिहास में पहली मर्तबा प्रयोग किया और जब राजीव सरकार का पोस्टल बिल दराज में ही रख लिया, जो आज तक नहीं निकल पाया। इससे पूर्व इंदिरा गांधी की हत्या के पश्चात उन्होंने परंपरा तोड़ते हुए वरिष्ठतम मंत्री इंद्रकुमार गुजराल की बजाय राजीव गांधी को प्रधानमंत्री बनाया। इतना ही नहीं, उन्होंने कई मर्तबा अपने क्रियाकलापों से राष्ट्रपति पद की शक्तियों का अहसास कराया।

मजबूरी का इजहार

नारायणन के उत्तरवर्ती राष्ट्रपति एपीजे अब्दुल कलाम ने भी वाजपेयी सरकार का 'ऑफिस ऑफ प्रॉफिट' बिल पुनर्विचार के लिए लौटा दिया था, जिसे सरकार के दुबारा भेजने पर उन्होंने हस्ताक्षर तो कर दिए, लेकिन यह कहने में भी गुरेज नहीं किया कि मुझे मजबूरन दस्तखत करने पड़े। तो, देश के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने भी एक समारोह में स्पष्ट कहा था कि वे 'रबड़ स्टाम्प' नहीं हैं। जब डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने राष्ट्रपति के रबड़ स्टाम्प न होने की बात कही, तो उसमें दम है, क्योंकि वे न सिर्फ न्यायविद् थे, बल्कि संविधान सभा के अध्यक्ष भी रहे थे, मतलब संविधान की बारीकियों से अच्छी तरह वाकिफ थे।

मर्सी पिटिशन का अधिकार

सुप्रीम कोर्ट से फांसी की सजा पाए मुजरिम की दया याचिका स्वीकार करने का भी राष्ट्रपति को अधिकार है। इसका प्रयोग सभी राष्ट्रपतियों ने अपने विवेक से किया। जहां शंकरदयाल शर्मा ने एक भी मुजरिम को फांसी से मुक्त नहीं किया, तो प्रतिभा पाटील ने सर्वाधिक 34, के.आर. नारायणन ने 10 में से 9, तो कलाम ने 25 में से सिर्फ एक याचिकाकर्ता को फांसी से बचाया। दूसरी ओर, प्रणब मुखर्जी ने सर्वाधिक 22 डेथ वारंट साइन किए, यानी मर्सी पिटिशन ठुकराई।

तमाम बातों पर मंथन के बाद साफ होता है कि राष्ट्रपति की भूमिका रबड़ स्टाम्प वाली नहीं, बल्कि वह चाहे तो सक्रिय प्रमुख हो सकता है और जनता के हित को सर्वोपरि रख सकते हैं। नहीं तो, इंदिरा सरकार को आपातकाल में संविधान में 42वें संशोधन के जरिए यह प्रावधान करने की क्या जरूरत थी कि राष्ट्रपति कैबिनेट के फैसलों को मानने के लिए बाध्य है। इस संशोधन को बाद में जनता पार्टी की सरकार ने 44वें संशोधन से समाप्त किया था। बहरहाल, जब राष्ट्रपति सर्वाधिक ताकतवर कार्यपालिका के फैसले को रोक (पॉकेट वीटो) सकता है, सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय (फांसी) को बदल सकता है, तो उसे रबड़ स्टाम्प कहना कतई उचित प्रतीत नहीं होता। हां, यह निर्भर है इस पद पर बैठे प्रथम नागरिक पर।

प्रतिनिधित्व भूमिका

जहां तक प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति के चुनाव में प्रतिनिधित्व भूमिका देखें तो राष्ट्रपति (President) का पलड़ा भारी लगता है। दरअसल, प्रधानमंत्री का चुनाव लोकसभा सदस्य बहुमत से करते हैं, जबकि राष्ट्रपति का निर्वाचन लोकसभा, राज्यसभा और सभी राज्यों की विधानसभाओं के सदस्य करते हैं। जाहिर है, राष्ट्रपति की प्रतिनिधित्व भूमिका प्रधानमंत्री से अधिक होती है।

महाभियोग का प्रावधान (Provision of Impeachment)

चाहे राष्ट्रपति की प्रतिनिधित्व भूमिका प्रधानमंत्री से ज्यादा हो, लेकिन संविधान में उसे हटाने का प्रावधान भी है। राष्ट्रपति को महाभियोग के जरिए हटाया जा सकता है, लेकिन यहां यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि

महाभियोग का प्रयोग तभी किया जा सकता है, जब उसने संविधान का उल्लंघन किया हो, न कि सरकार की बात नहीं मानने पर। और, इसके लिए पूरे सदन के दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता होती है।

14..राज्यसभा में सुधार का सही समय

संविधान के अनुच्छेद 108 के अनुसार दोनों सदनों में किसी कानून को पारित करने पर विवाद की स्थिति में राष्ट्रपति उनका एक संयुक्त अधिवेशन बुला सकता है। केवल धन-विधेयक पर राज्यसभा को कोई अधिकार नहीं। इसीलिए सरकार ने आधार-विधेयक को धन-विधेयक के रूप में पेश किया जिससे उसे राज्यसभा के व्यवधान से बचाया जा सके, परंतु प्रत्येक विधेयक के मामले में ऐसा करना संभव नहीं है। तो क्या राज्यसभा द्वारा विरोध और व्यवस्थापन में व्यवधान के चलते प्रचंड जनादेश प्राप्त किसी सरकार को काम करने से रोका जा सकता है?

- सरकार ने संविधान के अनुच्छेद 338 और 338(अ) के अंतर्गत 'राष्ट्रीय अनुसूचित जाति आयोग' और 'राष्ट्रीय अनुसूचित जनजाति आयोग' की तर्ज पर एक 'राष्ट्रीय-पिछड़ा वर्ग आयोग' बनाने के लिए संविधान संशोधन विधेयक पेश किया था।
- संविधान के अनुच्छेद 340 में राष्ट्रपति को एक पिछड़ा वर्ग आयोग बनाने का अधिकार है, पर उस आयोग का स्तर अनुसूचित-जाति और अनुसूचित जनजाति राष्ट्रीय आयोग जैसा नहीं है।
- अनेक जनजातियां गलती से पिछड़े-वर्ग में सम्मिलित कर ली गई हैं और बहुत सी जातियां पिछड़े वर्ग में प्रवेश के लिए तरस रहीं हैं। इसलिए राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग आयोग बहुत महत्वपूर्ण विधेयक है,

Conflict between Upper & Lower House

सरकार को अब वही कवायद दोबारा करनी पड़ेगी। लोकसभा में उस संशोधन विधेयक को दोबारा प्रस्तुत करना पड़ेगा और फिर उसे दोबारा राज्य सभा में भेजना पड़ेगा। राज्यसभा को यह नहीं भूलना चाहिए कि वह जनता द्वारा निर्वाचित सदन नहीं है और उसे लोकसभा से टकराव का रास्ता नहीं अपनाना चाहिए। इससे न केवल वह अपने मूल दायित्व से विमुख हो रही है, वरन जनता का भी कोप-भाजन बन सकती है। संविधान बनाते समय राज्यसभा को उच्च सदन की गरिमापूर्ण स्थिति दी गई और उम्मीद की गई थी कि दलगत राजनीति से ऊपर उठ कर वह स्तरीय बहस के आधार पर विधेयकों में सुधार और राज्यों के संघीय हितों का संरक्षण करेगी, न कि पिछड़ा वर्ग विधेयक जैसे प्रगतिशील विधेयकों को नष्ट करने का काम करेगी।

- यदि राज्यसभा कामकाज में रुकावट बनती है तो वह स्वयं अपनी गरिमा पर प्रहार करेगी।
- राज्यसभा सदस्यों को यह भी नहीं भूलना चाहिए कि सदन जनता के टैक्स से चलता है और सदन के सजीव प्रसारण से जनता को उन्हें अच्छी तरह से देखने-जांचने का मौका मिलता है। राज्यसभा में सदस्यों के व्यवहार से न केवल सदन के प्रति जनमत बनता है वरन राजनीतिक दलों का भी जन-मूल्यांकन होता रहता है जिसका दूरगामी प्रभाव दूसरे सदन लोकसभा के चुनावों पर भी पड़ता है।
- हमारे संविधान बनाने वाले 299 विद्वानों ने ब्रिटिश संसदीय व्यवस्था का अनुसरण किया, लेकिन राज्यसभा का स्तर वहां की समकक्ष लॉर्ड-सभा (हाउस ऑफ लॉर्ड्स) जैसा नहीं रखा। लॉर्ड-सभा को न तो कोई कानून बनाने का अधिकार है, न ही संविधान में संशोधन का।
- **Similarity with Britain:** लॉर्ड-सभा में केवल वाद-विवाद होते हैं। यदि वहां की कॉमन-सभा (हाउस ऑफ कॉमंस जो हमारी लोकसभा का समकक्ष है) और सरकार उन वाद-विवादों से लाभान्वित होना

चाहे तो और बात है। ब्रिटेन की लॉर्ड सभा कभी भी लोक सदन के लिए व्यवधान नहीं बन सकती और यह व्यवस्था आज से नहीं, वरन वर्ष 1910 से लागू है।

- **न्यायमूर्ति एमएन वेंकटचलैया संविधान समीक्षा समिति की सिफारिशें :** राज्यसभा के संबंध में समिति ने खास तौर से सिफारिश की थी कि सदन का अधिवेशन कम से कम 100 दिन अवश्य चले और सदस्य अपने आचरण और व्यवहार से संसद की प्रतिष्ठा और गरिमा को बनाने की कोशिश करें। समिति ने नए सदस्यों के गंभीर प्रशिक्षण की भी सिफारिश की थी जिससे वे संसद की जटिल प्रक्रियाओं, व्यवस्थाओं, नियमों, परंपराओं और संसदीय मर्यादाओं से रूबरू हो सकें, लेकिन राज्यसभा में गैरहाजिरी और विविध विषयों पर वाद-विवाद में सदस्यों की घटती रुचि के चलते एक नई समस्या पैदा हो गई है।
- राज्यसभा में 12 सदस्यों को साहित्य, विज्ञान, कला, और सामाजिक सेवा के क्षेत्र में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव के आधार पर मनोनीत किए जाने का प्रावधान है, लेकिन मनोनीत सदस्य तो जैसे भूले-भटके ही कभी राज्यसभा पहुंचते
- मनोनीत सदस्यों को रखने के पीछे तर्क यह था कि ऐसे लोग चुनाव आदि के बारे में कभी नहीं सोच सकते, इसलिये उनके ज्ञान और अनुभव का प्रयोग कर बेहतर कानून बनाने के लिए उनका मनोनयन किया जाए, पर यदि ऐसे सदस्य सदन में आते ही नहीं तो मनोनयन का क्या औचित्य?
- राज्यसभा में सुधार अब अपरिहार्य हो गए हैं। राजनीतिक नफा-नुकसान से ऊपर उठकर संघवाद और संसदीय लोकतंत्र की मूल भावना के अनुरूप संवैधानिक संशोधन करने होंगे।

इस पर गंभीर चर्चा होनी चाहिए कि क्या भारत जैसे लोकतांत्रिक देश में जनादेश पर आधारित लोकसभा गैर-जनादेश पर आधारित राज्यसभा की बंधक होनी चाहिए? क्या सामान्य कानून बनाने में भी लोकसभा और राज्यसभा के संबंध में संविधान के अनुच्छेद 109 में धन-विधेयकों के संबंध में वर्णित प्रावधानों जैसे नहीं हो सकते? क्या दोनों सदनों के पारस्परिक संबंधों के निर्धारण में हम ब्रिटेन के संविधान का अनुसरण नहीं कर सकते? ऐसा करने से राज्यसभा की गरिमा पर कोई आंच नहीं आएगी, वरन उसे जनादेश और जनाकांक्षा के और अनुरूप बनाया जा सकेगा

15. प्राइव्हेसी नागरिकों का मौलिक अधिकार?

संसद और सुप्रीम कोर्ट ने हाल ही में अनुच्छेद 21 के हिस्से के रूप में निजता यानी प्राइव्हेसी के अधिकार को हटाने के लिए संविधान संशोधन का सुझाव दिया। इस अनुच्छेद के तहत देश के सभी नागरिकों को जीवन का अधिकार मौलिक अधिकार के रूप में दिया गया है।

- ❖ अब संसद प्राइव्हेसी के अधिकार को 'पात्रता' आधारित मौलिक अधिकार बनाना चाहती है।
- ❖ इसका मतलब है कि इसे प्रकरण-दर-प्रकरण के आधार पर मूलभूत अधिकार की तरह लिया जाएगा।
- ❖ निजता का अधिकार उन अधिकारों में से एक है, जिसका हवाला अनुच्छेद 377 के तहत समलैंगिकता को अपराध मानने के खिलाफ दायर याचिका में दिया गया था। इस याचिका में दलील दी गई थी कि आपस में सहमत दो वयस्कों के बीच उनकी निजता के दौरान जो भी होता है, उससे शासन व्यवस्था को कोई लेना-देना नहीं होना चाहिए। इस प्रकार निजता का अधिकार होना अथवा प्रकरण के मुताबिक उसका दर्जा तय किए जाने से उक्त वर्ग के लोगों के लिए खतरे की बात है।
- ❖ मूलभूत अधिकारों में से निजता के अधिकार को हटाना महिला के लिए खतरनाक है, क्योंकि यह महिलाओं की सुरक्षा में बड़ा जोखिम पैदा कर देगा।

- ❖ नारीवादी टिप्पणीकारों के मुताबिक निजता के अधिकार को मूल अधिकार मानने से दिल्ली में निर्भया दुष्कर्म मामले के बाद महिलाओं की सुरक्षा के लिए किए गए प्रावधान उपाय बेअसर हो जाएंगे।
- ❖ मसलन, स्टाकिंग यानी पीछा किए जाने या रिर्वेज पॉर्न सहित कोई भी आक्रामक व्यवहार, जो महिला की निजता सुरक्षा के लिए नुकसानदायक है, उसे प्रकरण-दर-प्रकरण देखा जाएगा।
- ❖ इस तरह गरिमापूर्ण जीवन जीने के महिलाओं के अधिकार की व्याख्या अदालतें करेंगी।
- ❖ इससे महिला के लिए बड़ी विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जाएगी
- ❖ सबसे बड़ी बात यह है कि निजता के अधिकार को मूल अधिकार से हटाना सभी नागरिकों के लिए खतरे की बात है, क्योंकि सुनिश्चित संवैधानिक संरक्षण के अभाव में व्यक्ति को कई तरह के व्यवहार का निशाना बनने का जोखिम होगा और वह गरिमापूर्ण जीवन जीने से वंचित होगा

16. राज्य सभा हाईकमान के प्रतिनिधियों के बजाय वास्तव में राज्यों का सदन

राज्य सभा(upper house) की तीन सीटों के लिए गुजरात विधानसभा में बीते मंगलवार को हुआ मतदान हाल के समय की शायद सबसे अनोखी राजनीतिक घटनाओं में से है. यहीं से एक सवाल उठता है. सवाल यह कि जो राज्य सभा राज्यों के प्रतिनिधियों का सदन हुआ करती थी वह पार्टी हाईकमानों का सदन तो नहीं बनती जा रही है.

राज्य सभा(upper house), यानी मूल रूप से सिर्फ राज्यों के प्रतिनिधियों का सदन

- भाजपा हमेशा राज्य सभा को लोक सभा की तुलना में कमतर आंकती रही है. साल 2015 में केंद्रीय वित्त मंत्री अरुण जेटली ने तो यहां तक कह दिया था कि सीधे तौर पर चुने गए 'लोक सभा सदस्यों की बुद्धिमत्ता' पर 'अप्रत्यक्ष रूप से चुन कर आए राज्य सभा सदस्यों' की ओर से सवाल नहीं उठाए जाने चाहिए
- लेकिन गुजरात के उदाहरण से ही संकेत मिलता है कि शायद भाजपा भी राज्य सभा की अहमियत को महसूस करने लगी है.
- उसे अहसास होने लगा है कि 'अप्रत्यक्ष रूप से चुने गए लोगों का यह उच्च सदन' भी मायने रखता है. तभी तो शायद वह राज्य सभा की एक-एक सीट के लिए संघर्ष करते हुए नज़र आ रही है. गुजरात से पहले मध्य प्रदेश, हरियाणा उत्तर प्रदेश, राजस्थान आदि राज्यों में हो चुके राज्य सभा चुनाव के दौरान हर सीट जीतने की पार्टी की कोशिश इसका पुख्ता और प्रत्यक्ष प्रमाण मानी जा सकती है.
- राज्य सभा का पहला ज़िक्र भारत सरकार कानून- 1935 में मिलता है. इस कानून को अंग्रेजों ने बनाया था जिसके तहत भारत को पहली बार कानूनी तौर पर राज्यों का संघ माना गया. जैसा कि इसके नाम 'राज्य सभा' से ही स्पष्ट है, यह मूल रूप से देश के विभिन्न राज्यों के प्रतिनिधियों की ही परिषद है, उनका सदन है. कानून में इस सदन की परिकल्पना भी कुछ इसी तरह से की गई थी.

लेकिन समय के साथ इसे संसद में पहुंचने का 'पिछला दरवाज़ा' मान लिया गया

- यानी शुरुआती कानून से लेकर आगे बढ़ने वाली परंपराओं तक राज्य सभा के बारे में भावना यही रही है कि इसमें राज्यों के वे प्रतिनिधि आए जो संबंधित राज्य से ही हों.

- यानी उसी के मूल निवासी हों जिसके वे राज्य सभा में प्रतिनिधि हैं. हालांकि आगे चलकर यह नियम छिन्न-भिन्न होता दिखा. पार्टी के बड़े नेताओं को तुरत-फुरत संसद में पहुंचाने के लिए इस उच्च सदन को 'पिछला दरवाज़ा' मान लिया गया.
- विभिन्न दलों ने अपने लिए इस सुविधाजनक स्थिति को हासिल करने के लिए 2003 में जनप्रतिनिधित्व कानून में संशोधन भी किया. इसके ज़रिए राज्य सभा के सदस्यों के लिए राज्यों का मूल निवासी होने का प्रावधान पूरी तरह खत्म कर दिया गया.
- यहीं से शायद राज्य सभा में आने के लिए या लाए जाने के लिए धनबल और धनबलियों की सीधी दखलंदाज़ी भी शुरू हो गई. इसके कुछेक उदाहरणों पर गौर भी किया जा सकता है. मसलन झारखंड से राज्य सभा सदस्य परिमल नाथवानी गुजरात के बड़े कारोबारी हैं जबकि उच्च सदन में इसी राज्य के एक अन्य प्रतिनिधि केडी सिंह चंडीगढ़ के उद्योगपति हैं. उनके जैसे और भी कई बड़े कारोबारी उच्च सदन में मौजूद हैं.

तो किसी तरह इस स्थिति से निज़ात मिल सकती है?

कुल मिलाकर आज स्थिति यह है कि दिल्ली में राज्यों की आवाज़ कमज़ोर पड़ती जा रही है क्योंकि संसद में राज्यों के प्रतिनिधियों के सदन में जो लोग हैं उनका संबंधित प्रदेशों से लेना-देना भी कम ही होता है. उधर, राज्यों से निकल रहे असंतोष के सुर बुलंद हैं. उदाहरण के लिए कर्नाटक में हिंदी के विरोध में चल रहे आंदोलन की आवाज़ पूरे देश में सुनी जा रही है. तमिलनाडु में जल्लीकट्टू के आयोजन को लेकर जिस तरह से जनांदोलन को पुनर्जीवन मिला उसे भी देशभर ने देखा. इसी तरह पश्चिम बंगाल में तृणमूल कांग्रेस की सरकार इन दिनों राज्य गान को सुर-संगीत देने में लगी है. ऐसे और भी तमाम प्रयास विभिन्न राज्यों में देखे जा सकते हैं.

सो ऐसे में अगर यह कहा जाए कि राज्यों की ये प्रतिक्रियाएं दिल्ली में उनकी कमज़ोर पड़ती आवाज़ का परिणाम हैं तो शायद ज्यादा ग़लत नहीं होगा. लिहाज़ा इस माहौल में स्थिति नियंत्रित-संतुलित करने की गरज से राज्य सभा को उसका मूल स्वरूप लौटाने की ज़रूरत भी उतनी ही शिद्दत से महसूस की जा रही है. ऐसे में सवाल है कि क्या इसके कोई तरीके हो सकते हैं. तो इसका ज़वाब यह है कि 'हां', जरूर हो सकते हैं. इसके लिए ख़ास तौर पर तीन तरीकों को अपनाया जा सकता है जिनसे राज्य सभा मज़बूत तो होगी ही राज्यों की छटपटाहट भी शांत होगी क्योंकि केंद्र में उनकी आवाज़ें दमदार तरीके से फिर सुनी जाने लगेगी.

1. राज्य के मूल निवासी वाली शर्त फिर जोड़ी जाए

- राज्य सभा (upper house) को मज़बूत करने का सबसे प्रभावी तरीका यह हो सकता है कि उसकी सदस्यता के लिए किसी राज्य के मूल निवासी वाली शर्त फिर जोड़ी जाए. यानी सदस्य जिस राज्य का प्रतिनिधित्व करें वे वहीं के मूल निवासी हों.
- इस प्रावधान को हटाने से राज्य सभा विभिन्न पार्टियों की हाईकमान के प्रतिनिधियों का सदन बनकर रह गई है.

2. राज्य सभा में सभी राज्यों के प्रतिनिधियों की संख्या समान हो

- राज्य सभा (upper house) में सभी राज्यों के प्रतिनिधियों की सदस्य संख्या बराबर हो.

- इस सिलसिले में दुनिया के अन्य देशों से सीखा जा सकता है वे कैसे अपने सभी राज्यों को संघीय संसद में संतुलित प्रतिनिधित्व देते हैं. मिसाल के तौर पर अमेरिका में सभी राज्यों के दो-दो सदस्य अमेरिकी कांग्रेस के उच्च सदन सीनेट के सदस्य होते हैं. यहां यह मायने नहीं रखता कि कौन सा राज्य जनसंख्या के लिहाज़ से कितना बड़ा है या छोटा. दो सदस्यों से वहां यह व्यवस्था चली आ रही है. इससे किसी तरह के विवाद या असंतोष की स्थिति नहीं बनती.
- यह विकल्प भारत में भी आजमाए जाने की ज़रूरत है. विशेष रूप से यह देखते हुए कि देश में कई राज्य ऐसे हैं खास तौर पर हिंदी भाषी राज्य जहां जनसंख्या विस्फोट की स्थिति बनी हुई है. इससे यह धारणा भी बन रही है कि केंद्र में ज़्यादा आबादी वाले राज्यों का प्रभुत्व है. यह विकल्प आजमाकर यह धारणा तोड़ी जा सकती है.

3. राज्य सभा को लोक सभा की तरह शक्तियां दी जाएं

- राज्य सभा को लोकसभा के समान शक्तियां देने की भी ज़रूरत है. अभी स्थिति यह है कि धन विधेयक पर राज्य सभा की राय को ज़्यादा तवज़ो नहीं दी जाती. उसमें आखिरी मर्ज़ी लोक सभा की ही चलती है.
- संसद का संयुक्त सत्र बुलाकार भी राज्य सभा को दरकिनार किया जा सकता है जबकि फिर अमेरिका का उदाहरण देखें तो वहां ऐसा नहीं किया जा सकता. अमेरिकी संसद में निचले सदन प्रतिनिधि सभा को जितनी शक्तियां मिली हुई हैं उतनी ही उच्च सदन सीनेट को भी हैं. इससे वहां शक्ति संतुलन की स्थिति रहती है.
- बल्कि अमेरिका में तो सीनेट के सदस्य को ज़्यादा प्रतिष्ठा प्राप्त है क्योंकि वह किसी एक संसदीय क्षेत्र नहीं बल्कि पूरे राज्य का प्रतिनिधित्व करती है. इसी तरह भारत में भी राज्य सभा और उसके सदस्यों को शक्ति संपन्न बनाकर उसे सही मायने में राज्यों के प्रतिनिधियों का सदन बनाया जा सकता है, एक तरह शक्ति संतुलन स्थापित किया जा सकता है और राज्यों को यह भरोसा दिया जा सकता है कि उनकी आवाज़ें संसद में अनसुनी नहीं की जाएंगी
- How rajyasabha should be empowered to make it truly house of states?

17. ग्राम सभा की बात

PESA & then Forest right act has given prominence to gram sabhas but now they losing relevance

#Prabhat_Khabar

साल 2013 में ओडिशा के नियमगिरि में वेदांता के बॉक्साइट खनन के मामले में सुप्रीम कोर्ट ने अपनी ओर से कोई फैसला न सुनाते हुए वहां की ग्राम सभाओं को निर्णय देने का अधिकार दिया था. यह संभवतः स्वतंत्र भारत का ऐसा ऐतिहासिक फैसला था, जिसमें आदिवासियों ने अपने निर्णय से दुनिया की एक बड़ी कंपनी को मात दिया था. यह ग्राम सभा के द्वारा संभव हुआ था.

Gram Sabha & PESA

- ग्राम सभा की बात संवैधानिक रूप से पेसा अधिनियम-1996 में कही गयी है. खासतौर पर पांचवीं अनुसूची के क्षेत्रों (आदिवासी क्षेत्र) में ग्राम सभा को विशेष अधिकार दिये गये हैं.
- इसमें परंपरा का निर्वहन, गरीबी उन्मूलन, बाजार का प्रबंधन, विकास परियोजनाओं, भू-अर्जन एवं खनन पट्टा के लिए अनुमोदन से संबंधित शक्तियों के प्रावधान के जरिये ग्राम सभा की स्वायत्तता को विस्तार देने की कोशिश की गयी है. 'भारत जन आंदोलन' ने इसके लिए बड़े पैमाने पर आंदोलन किया था. 'हमारे गांव में हमारा राज' की संकल्पना ने अनुसूचित क्षेत्रों में वास्तविक आजादी की लहर को पैदा किया था. लेकिन, बहुत जल्दी ग्राम सभा के अधिकारों से बहुराष्ट्रीय पूंजी के हितों का टकराव शुरू हो गया और पेसा अधिनियम आंशिक रूप से भी लागू नहीं हो सका. आज पेसा अधिनियम के होते हुए भी बहुत बड़े पैमाने पर आदिवासी क्षेत्रों में जमीन की लूट जारी है.

Gram Sabha & Tribble Rights

ग्राम सभाओं द्वारा आदिवासी क्षेत्रों में उनके आत्मनिर्णय के अधिकार को सुनिश्चित करने की कोशिश है. ग्राम सभा आदिवासियों की जीवनशैली एवं उनकी स्वायत्तता को बरकरार रखने के लिए संविधान द्वारा प्रदत्त शक्ति है. इसमें शक्ति के विकेंद्रीकरण का भाव भी है. लेकिन, सवाल है कि पूंजीवादी ढांचे के अंदर लोकतांत्रिक शक्ति का विकेंद्रीकरण कितना संभव है? क्या निजी हित या पूंजी का हित समुदाय के हित से जुड़ सकता है? ग्राम सभा की परिकल्पना के केंद्र में समुदाय है. समुदाय का निर्णय वहां प्रभावी है. लेकिन, आज खुद राज्य सत्ता संविधान द्वारा प्रदत्त शक्तियों को समुदायों के बीच वितरित करने के बजाय बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए संवैधानिक प्रावधानों को 'बाइपास' कर रही है. ऐसे में सवाल है कि ग्राम सभा के अस्तित्व का स्वरूप क्या होगा? क्या बहुराष्ट्रीय निवेश और आम जन का आत्मनिर्णय साथ-साथ संभव है?

Gram Sabha Losing relevance

दरअसल, 'स्मार्ट सिटी' के जमाने में 'गांव' अप्रासंगिक किये जा रहे हैं. उसी का परिणाम है कि ग्राम सभाओं का अस्तित्व सिकुड़ रहा है. ग्राम सभाओं को स्वायत्तता देने का मतलब है बहुराष्ट्रीय पूंजी के अनियंत्रित प्रवाह में रुकावट. अनुसूचित क्षेत्रों में प्राकृतिक संसाधनों का बेलगाम दोहन ग्राम सभाओं की स्वायत्तता के रहते हुए संभव नहीं है. इसलिए विदेशी निवेश को आकर्षित करने के लिए 'भूमि अधिग्रहण' से संबंधित जो भी नये कानून बन रहे हैं, उसमें पेसा अधिनियम 1996 के प्रावधानों की घोर अनदेखी है. हाल के दिनों में कई ऐसे मामले सामने आये हैं, जहां प्रशासन की नीतियों और ग्राम सभा के बीच सीधी टकराहट हुई है. भूमि अधिग्रहण से संबंधित कानूनों में ग्राम सभा के अधिकार निष्प्रभावी हैं. भारत जन आंदोलन के दिनों में 'न लोक सभा, न विधान सभा, सबसे ऊपर ग्राम सभा' की जो बात उठी थी, अब वह लगभग दफन हो रही है. नव उदारवाद के दौर में भारतीय लोकतंत्र के विकेंद्रीकरण पर गहरा अघात पहुंचा है. देश के ज्यादातर हिस्सों में हो रहे जन आंदोलन इसके उदहारण हैं.

ग्राम स्वराज की परिकल्पना गांधीजी ने की थी. गांधी जयंती के अवसर पर अन्य रूपों में गांधीजी को याद किया जाता है, लेकिन गांधी के विचारों में जहां जन समुदाय के साथ संसाधनों के बंटवारे की बात आती है, वहां सरकारें मौन रह जाती हैं. असगर वजाहत का एक महत्वपूर्ण नाटक है 'गोडसे @ गांधी.कॉम'. इस नाटक में एक दृश्य है, जिसमें गांधीजी के ऊपर देशद्रोह का मुकदमा इसलिए दायर किया जाता है, क्योंकि वे केंद्र के शासन की जगह ग्राम सभा की नीतियों का अनुसरण करते हैं. यह आज की व्यवस्था का यथार्थ है. आज आदिवासी क्षेत्रों में जो जन प्रतिरोध उभर रहे हैं, उनका सैन्य दमन कर ग्राम सभा के प्रतिनिधियों को नक्सली होने के झूठे मुकदमों में बंद किया जा रहा है. वस्तुतः यह समाज के 'अंतिम जन' के विरुद्ध संसाधनों पर कब्जे की लड़ाई है.

आज पूंजी के संकेंद्रण ने शक्ति को भी संकेंद्रित किया है. गांवों के विकास की बात राजनीतिक जुमलों में तो कही जाती है, लेकिन गांवों के पास खुद अपने निर्णय का अधिकार नहीं है. आज ग्राम सभाओं के पास न अपनी कोई वित्तीय ताकत है और न ही कोई प्रशासनिक ढांचा है. अनुसूचित क्षेत्रों में ग्राम सभाओं की स्वायत्तता की जगह सरकार ने उसे पंचायतों से जोड़कर ब्यूरोक्रेसी के अधीन कर दिया है. हो सकता है कि 'स्मार्ट सिटी' के बड़बोलेपन के बीच आपको ग्राम सभा की बात शायद बेमानी लगे, लेकिन सोचिये कि क्या 'स्मार्ट सिटी' के जमाने में एक दिन भारत के सारे-के-सारे गांव 'स्मार्ट सिटी' में तब्दील हो जायेंगे?

18. CAG : क्या बस एक मूक दर्शक बनकर रह गया है ?

Transparency International की तरफ से जारी भ्रष्टाचार धारणा सूचकांक में भारत 176 देशों की सूची में 79वें स्थान पर है। यहां भ्रष्टाचार का बहुत बड़ा हिस्सा सार्वजनिक कोष में गड़बड़ियों से जुड़ा हुआ है। आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन के मुताबिक भारत अपने सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) का 30 फीसदी हिस्सा सरकारी खरीद में व्यय करता है। इससे अंदाजा लगाया जा सकता है कि इसमें होने वाला भ्रष्टाचार कितने बड़े स्तर तक पहुंचा है? अनुमान है कि सार्वजनिक परियोजनाओं में होने वाला 20-30 फीसदी सरकारी निवेश भ्रष्टाचार की भेंट चढ़ जाता है। अगर इसके साथ सरकारी राजस्व में होने वाली गड़बड़ी को भी जोड़ लें तो भ्रष्टाचार की यह कहानी काफी परेशान करने वाली है।

To check these we have CAG

THE CORE IAS

(www.gshindi.com)

CRASH COURSE-Geography Optional

PAPER - 2

Only in
25 Days

Preparation in Question - Answer Format

Come & See the Reality of Paper-2 with Current Update

बड़े शिक्षकों से पढ़ चुके विद्यार्थी विशेष रूप से आमंत्रित

Add. : 2nd Floor, Chamber No. 3 Batra Cinema Complex
Dr. Mukherjee Nagar, Delhi-09

8800141518

संविधान निर्माताओं ने सार्वजनिक कोष से संबंधित प्रावधानों को तय करते समय नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (सीएजी) को एक स्वतंत्र दर्जा और प्राधिकार दिया था। इसके पीछे सोच यही थी कि यह संस्था बिना किसी भय या पक्षपात के कदाचार के खिलाफ पहरेदार के तौर पर काम कर सके। लेकिन लगता है कि सीएजी संस्था सरकारी धन की लूट पर लगाम लगाने में नाकाम रही है। चुनाव आयोग ने जहां नई चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए अपनी भूमिका का लगातार विस्तार किया है वहीं सीएजी लेखा-परीक्षण का तयशुदा काम करने तक ही सीमित रहा है।

Working of CAG

हालांकि सीएजी की रिपोर्टों पर संसद और विधानसभाओं की लोकलेखा समितियों में सरसरी तौर पर चर्चा होती है लेकिन कोई भी सीएजी के कामकाज पर न तो सवाल उठाता है और न ही इसकी समीक्षा करता है। इसका नतीजा यह होता है कि:

- यह अपनी किलेबंद दीवारों के भीतर ही काम करता है। यह विशेषज्ञों, पेशेवरों या संस्थानों के प्रतिनिधियों के साथ संवाद भी नहीं करता है।
- यह लोक सेवकों और आम जनता के हित में अपनी नीतियों या तरीकों का विस्तार नहीं करता है और यह मूलतः एकालाप में ही भरोसा करता है। ऐसी कोई भी दूसरी संवैधानिक संस्था नहीं है जो सीएजी जैसा तनहा और पहुंच से बाहर हो। सीएजी विशेषाधिकारों और सुविधाओं की एक आरामदेह खोह में पहुंच गया है।

Is this just a post mortem agency

केवल पुराने मामलों की ही पड़ताल करने से सीएजी को असल में 'भारत का पोस्टमॉर्टम प्राधिकरण' कहा जाना चाहिए। हालांकि इस संस्था को समवर्ती लेखा-परीक्षण (Concurrent audit) की अनुमति मिली हुई है। भले ही इसकी बुनियादी भूमिका लेखा-परीक्षण की है लेकिन कोई भी प्रावधान इसे वित्तीय गड़बड़ी पर रोक लगाने वाले उपाय करने से नहीं रोकते हैं। सीएजी की तमाम रिपोर्टों को देखने से साफ है कि उसने कभी भी आर्थिक गड़बड़ियों को रोकने के लिए दिशानिर्देश या परामर्श जारी करने की कोशिश नहीं की है। इसकी रिपोर्ट आम तौर पर घटना खत्म हो जाने के काफी बाद आती है और अमूमन उसे लिखा भी इस तरह जाता है कि गड़बड़ी करने वालों पर शायद ही उसका असर होता है। इस तरह सीएजी की पूरी मेहनत जाया हो जाती है।

Lackadaisical attitude of CAG

हमें अच्छी तरह पता है कि स्थानीय पुलिस की नाकामी से ही उस इलाके में अपराध बढ़ता है। सीएजी के मामले में भी कुछ उसी तरह की शिथिलता रही है। आखिर बड़े पैमाने पर हुई लूट-खसोट की किस तरह व्याख्या की जा सकती है? घोटाले बढ़ती तेजी से सामने आते रहे हैं लेकिन सीएजी इनमें से बहुत कम घोटालों का ही पर्दाफाश कर पाया है और उनके भी नतीजे बहुत सीमित रहे हैं। इस तरह सीएजी सरकारी धन की लूट पर अपेक्षित रोक नहीं लगा पाया है।

Other lacunas in working of CAG

- CAG का झुकाव अप्रत्याशित फैसलों के प्रति नजर आता है क्योंकि यह ईमानदार एवं मेहनती निर्णय-निर्माण को अक्सर फटकार लगाता है। इसके चलते नौकरशाह फैसले लेने से ही बचना पसंद करते हैं। आम धारणा है कि सीएजी, केंद्रीय जांच ब्यूरो (सीबीआई) और केंद्रीय सतर्कता आयोग (सीवीसी) का दखल बढ़ने से सरकारी कामकाज धीमा हुआ है जिससे शासन और कल्याण कार्यों का काफी नुकसान हुआ है। जहां सीबीआई और सीवीसी का कामकाज सरकार के दायरे में आता है वहीं सीएजी को अपनी नीतियां तय करने और अपनी नाकामियां स्वीकार करने की पूरी आजादी है

- न्यायशास्त्र कहता है कि किसी आपराधिक कृत्य के लिए किसी व्यक्ति को दंडित करने के पहले उसके ऊपर लगे आरोप को पूरी तरह साबित करना होता है। सिविल मामले में किसी की जवाबदेही तय करने के लिए पर्याप्त सबूत होने चाहिए। हालांकि सीएजी संदेह की सूरत में नया प्रतिमान बनाते हुए नजर आता है। जब भी उसे किसी मामले में संदेह होता है तो वह संबंधित लोक सेवकों को ही दंडित कर देता है। सीएजी के कर्मचारी आम तौर पर नियमित सरकारी लेनदेन का परीक्षण करने के लिए ही प्रशिक्षित हैं लेकिन अब उन्हें जटिल आर्थिक मामले भी देखने पड़ रहे हैं जो उनकी क्षमता के बाहर की बात लगती है। नतीजा यह होता है कि अक्सर सतही और दोषपूर्ण रिपोर्ट सामने आती हैं। वे गड़बड़ी करने वाले लोगों को चिह्नित करने के लिए सख्ती से जांच नहीं करते हैं।
- ध्यान आकृष्ट करने के लिए पिछले कुछ वर्षों से इन रिपोर्टों में सनसनी की प्रवृत्ति देखी जा रही है। स्पेक्टम और कोयला खदान घोटालों के संदर्भ में सीएजी की तरफ से जारी भारी-भरकम आंकड़ों को ही लीजिए। निश्चित रूप से सीएजी ने इन घोटालों को उजागर करने का उल्लेखनीय कार्य किया था लेकिन उसने पुष्ट न किए जा सकने वाले आंकड़े देकर अपनी विश्वसनीयता के साथ ही समझौता किया। सनसनीखेज रिपोर्ट जारी करने की इस प्रवृत्ति के चलते सीएजी अपनी विशेषज्ञता का इस्तेमाल करते हुए संबंधित मामलों का वस्तुपरक एवं विवेकपूर्ण परीक्षण करने से भटकता हुआ दिख रहा है।

कोई भी राष्ट्र उसके संस्थानों से बनता है। सीएजी संस्था को संविधान-निर्माताओं ने बेहद अहम माना था लेकिन उनकी उम्मीदें गलत साबित हुई हैं। अब सीएजी को अपना आकलन करने का समय आ गया है और इसी के साथ इसकी भूमिका और दायित्वों पर व्यापक सार्वजनिक चर्चा की भी जरूरत है। यह संस्था भ्रष्टाचार के खिलाफ जंग में अग्रणी भूमिका निभा सकती थी और भारत को भ्रष्टाचार सूचकांक में अपनी स्थिति सुधारने की सख्त जरूरत है।

TheCore की अन्य अध्ययन सामग्री

- 200+ ENVIRONMENT MCQ
- ENVIRONMENT Notes
- PIBमासिक पत्रिका
- भारत सार
- Monthly Magazine
- 500+PT MCQ
- Geography optional Paper II

INDIAN Judiciary

1. न्यायपालिका के लिए इंफ्रास्ट्रक्चर सुविधाओं का विस्तार

केंद्रीय मंत्रिमंडल ने न्यायपालिका के लिए इंफ्रास्ट्रक्चर सुविधाओं का विकास बारहवीं पंचवर्षीय योजना

अर्थात् 01.04.2017 से 31.03.2020 के अतिरिक्त करने के लिए 3,320 करोड़रूपये के अनुमानित परिव्यय से राष्ट्रीय न्याय सुपुर्दगी और न्यायिक सुधार मिशन के माध्यम से केंद्रीय प्रायोजित स्कीम

(सीएसएस) का कार्यान्वयन मिशन मोड़ में जारी रखने को अपनी मंजूरी दी है। मंत्रिमंडल ने न्याय विभाग द्वारा जीओ टेगिंग के साथ एक ऑनलाइन निगरानी प्रणाली की स्थापना करने की भी मंजूरी दी है जिससे कि कार्य प्रगति, भविष्य की परियोजनाओं के साथ-साथ भविष्य में संपूर्ण देश में कार्यान्वयन के लिए स्कीम के अंतर्गत निर्माण किए जाने वाले न्यायालय परिसरों और आवासीय यूनिटों के नियम और विशेषताएं बनाने तथा बेहतर परिसंपत्ति सहित निर्माणाधीन न्यायालय परिसरों और आवासीय यूनिटों की कार्य प्रगति पर आंकड़े एकत्रित किए जा सकें। **इस स्कीम के लाभ:**

- इस स्कीम से जिला, उप-जिला, तालुका, तहसील और ग्राम पंचायत और गांव स्तर सहित संपूर्ण देश के जिला एवं अधीनस्थ न्यायालयों के न्यायिक अधिकारियों/न्यायधीशों के लिए उपयुक्त संख्या में न्याय परिसर और आवासीय यूनिट की उपलब्धता में बढ़ोतरी होगी।
- इससे देशभर में न्यायपालिका कार्य प्रणाली और कार्य प्रदर्शन में सुधार करने में मदद मिलेगी जिससे कि देश के प्रत्येक नागरिक तक न्याय प्रक्रिया पहुंच पाए।

इस स्कीम की मॉनिटरिंग:

- न्याय विभाग द्वारा एक ऑनलाइन निगरानी प्रणाली की स्थापना की जाएगी जिससे कि कार्य प्रगति, निर्माणाधीन न्यायालय परिसरों और आवासीय यूनिटों की कार्य प्रगति पर आंकड़े एकत्रित करने के साथ-साथ बेहतर परिसंपत्ति प्रबंधन भी हो सकेगा
- त्वरित और बेहतर निर्माण को सुनिश्चित करने के लिए विभिन्न राज्यों में राज्य के मुख्य सचिवों और पीडब्ल्यूडी अधिकारियों के साथ मॉनिटरिंग समिति की नियमित बैठकों का आयोजन किया जा सकता है। यह इस बात की निगरानी कर सकेगा कि केन्द्र सरकार द्वारा जारी की गई निधियां राज्य सरकारों द्वारा पीडब्ल्यूडी को बना किसी विलंब के भेजी जाएं। पृष्ठभूमि
- केन्द्र सरकार ने न्यायपालिका के लिए इंफ्रास्ट्रक्चर सुविधाओं के विकास के लिए 1993-94 से क्रियान्वित की जा रही केंद्रीय प्रायोजित स्कीम के माध्यम से इस संबंध में राज्यों के संसाधनों में बढ़ोतरी की है। जिला और अधीनस्थ न्यायालयों के न्यायिक अधिकारियों/न्यायधीशों के लिए न्यायालय परिसरों और आवासीय यूनिटों के निर्माण के लिए केंद्रीय रूप से प्रायोजित स्कीम (सीएसएस) के अन्तर्गत राज्य सरकारों/संघ राज्य क्षेत्र प्रशासनों को केंद्रीय सहायता प्रदान की जाती है।

2. अधिकरणों की सीमित भूमिका से बढ़ेगी उच्च न्यायालयों की ताकत

पिछले कुछ दशकों में न्याय मिलने में होने वाले विलंब और लंबित मामलों की बढ़ती संख्या ने न्यायाधिकरणों की अवधारणा को काफी मजबूती दी है। विभिन्न विधि आयोगों की रिपोर्ट में इस मसले का जिक्र आता रहा है। इस बीच न्यायाधिकरणों की संख्या बढ़ती रही और 30 के भी पार जा पहुंची।

- हालांकि सरकार ने हाल ही में इनमें से आठ न्यायाधिकरणों का वजूद समाप्त कर दिया है।
- प्रतिस्पद्र्धा अपीलीय न्यायाधिकरण के राष्ट्रीय कंपनी कानून अपीलीय न्यायाधिकरण में विलय, साइबर अपीलीय न्यायाधिकरण के दूरसंचार विवाद निपटान अधिकरण और कॉपीराइट बोर्ड के बौद्धिक संपदा अपीलीय बोर्ड में विलय जैसे कदमों से ऐसा हो पाया है। सरकार कुछ अन्य अधिकरणों के विलय की दिशा में भी काम कर रही है ताकि कुल न्यायाधिकरणों की संख्या को घटाकर 18 पर लाया जा सके।

Law Commission Report on Tribunal

इन कदमों के बावजूद विधि आयोग की पिछले महीने आई 272वीं रिपोर्ट में न्यायाधिकरणों के कामकाज को लेकर असंतोष जताया गया है। इस रिपोर्ट के मुताबिक 'कुछ न्यायाधिकरणों के कामकाज से संबंधित आंकड़े संतोषजनक तस्वीर नहीं पेश करते हैं। हालांकि हर साल सुनवाई के लिए आने वाले मामलों की तुलना में उनके निपटारे की दर 94 फीसदी के साथ काफी अच्छी है लेकिन इसके बाद भी लंबित मामलों की संख्या अधिक है।' शीर्ष पांच न्यायाधिकरणों पर करीब 3.5 लाख मामलों का बोझ है। आयकर अपीलीय न्यायाधिकरण के पास 91,538 मामले लंबित हैं जबकि सीमा शुल्क एवं सेवा कर अपीलीय अधिकरण के समक्ष 90,592 और ऋण वसूली न्यायाधिकरण के समक्ष 78,118 मामले लंबित हैं।

Some lacunas in Tribunals

- पर्याप्त ढांचागत आधार न होने और असंतोषजनक सेवा शर्तों के अलावा वकीलों एवं संबद्ध पक्षों की तरफ से विलंबकारी तरीके अपनाने जैसी समस्याओं का सामना इन न्यायाधिकरणों को करना पड़ता है।
- अधिकांश अपीलीय अधिकरणों का गठन उच्च न्यायालयों के समकक्ष स्तर पर किया गया है लिहाजा कार्यपालिका के प्रभाव से उनकी आजादी को सुरक्षित रखा जाना निहायत जरूरी है। यह एक संवैधानिक जरूरत है।
- विधि आयोग का कहना है कि इन अधिकरणों का ढांचा तैयार करने वाले अधिकांश कानून संबद्ध उच्च न्यायालयों से उनका अधिकार क्षेत्र ले लेते हैं और उसे अधिकरणों के सुपुर्द कर देते हैं। हालांकि इन अधिकरणों में नियुक्ति के तरीके, योग्यता निर्धारण और कार्यकाल उच्चतम न्यायालय के विभिन्न फैसलों में निहित मानदंडों के अनुकूल नहीं होते हैं। इससे भी बढ़कर इन अधिकरणों का गठन करने वाले विधानों में इनकी स्वतंत्रता अक्षुण्ण रखने का कोई प्रावधान नहीं है।
- आयोग कहता है कि इसके उलट कार्यपालिका के पास इन अधिकरणों का प्रशासकीय नियंत्रण होने से अधिकरण काफी हद तक उस कार्यपालिका के ही अधीन हो जाते हैं जिनके मामले उसके पास निपटारे के लिए आते हैं। इससे इस संदेह को बल मिलता है कि न्यायाधिकरणों के सैकड़ों रिक्त पदों पर सेवानिवृत्त लोकसेवकों को तैनात करने का इंतजार किया जा रहा है।
- न्यायाधिकरणों में लंबे समय से रिक्त पदों पर भर्ती नहीं होना इनकी कार्यक्षमता को गंभीर रूप से प्रभावित करता है। उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम का ही उदाहरण लें तो इसमें जिला स्तर पर भी तीन सदस्यों का पीठ बनाने का प्रावधान रखा गया है। लेकिन एक भी ऐसा उपभोक्ता फोरम मिल पाना कठिन है जिसमें यह कोरम पूरा होता हो। दूसरे अधिकरण भी कम सदस्यों से ही काम चला रहे हैं। आयोग का सुझाव है कि किसी भी अधिकरण में किसी पद के रिक्त होने की तारीख के छह महीने पहले ही उस पर नियुक्ति की कार्रवाई शुरू कर दी जानी चाहिए। लेकिन किसी भी न्यायाधिकरण में इस सुझाव का पालन नहीं किया गया है। इसका नतीजा यह होता है कि अक्सर जनहित याचिकाएं दायर कर रिक्त पदों पर जल्द नियुक्ति की गुहार लगानी पड़ती है।

अपीलीय अधिकरणों के मामले में तो हालत और भी अधिक खराब है। आम तौर पर अपीलीय अधिकरणों में एक ही पद होता है और वह भी नई दिल्ली में होता है। आयोग का सुझाव है कि इन अपीलीय अधिकरणों की शाखाएं देश के अलग-अलग हिस्सों में गठित की जाएं। लेकिन जब सरकार मौजूदा समय में एक ही जगह नहीं भर पा रही है और उसके लिए जरूरी ढांचा मुहैया नहीं करा पा रही है तो फिर इन अधिकरणों की कई शाखाएं गठित करने के बारे में सोच पाना भी मुश्किल है। हालांकि कर अधिकरण जैसे कुछ

न्यायाधिकरणों की कई शाखाएं हैं लेकिन लोकसेवकों के न्यायिक भूमिका में आने की छिपी हुई चाहत के चलते ऐसा हुआ है।

न्यायाधिकरणों के गठन का रास्ता खोलने वाले संवैधानिक प्रावधानों को कुछ लोग 1975 में लगे आपातकाल के दौरान उच्च न्यायालयों की भूमिका को कमतर करने की कोशिश के तौर पर देखते हैं। अगर ऐसा नहीं है तो वर्तमान सरकार ने न्यायाधिकरणों की संख्या को कम करने की जो पहल की है उसकी तारीफ की जानी चाहिए। न्यायाधिकरणों के जरिये न्याय मुहैया कराने की सोच के फायदों को लेकर न्यायविदों में अक्सर मतभेद रहे हैं। लेकिन इन अधिकरणों की संख्या कम करने के पहले उच्च न्यायालयों को सशक्त करने के प्रयास तत्काल किए जाने चाहिए। फिलहाल देश के 24 उच्च न्यायालयों में 400 पद रिक्त हैं और यह निंदनीय अक्षमता चिरस्थायी हो चुकी है

उच्चतम न्यायालय कॉलेजियम के संदर्भ में यह समस्या और भी अधिक गंभीर नजर आने लगती है और सरकार शीर्ष न्यायपालिका में नियुक्ति की प्रक्रिया पर वर्चस्व को लेकर सरकार न्यायपालिका से भिड़ गई। यह संकट ऐसे समय आया है जब उच्च न्यायालयों की समेकित संवैधानिक भूमिका पुनःस्थापित की जानी चाहिए जबकि विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत अधिकरणों की प्रक्रियागत एवं निर्णयकारी शक्तियों में कटौती होनी चाहिए।

3. पारदर्शिता की पहल

न्यायिक व्यवस्था के शिखर पर जजों के हाथों जजों की नियुक्ति प्रक्रिया की गरिमा पर कुछ हालिया वाक्यों से आंच आई है। पहले जस्टिस कर्णन का प्रकरण उठा, सुप्रीम कोर्ट के साथ टकराव के बाद उनकी नियुक्ति को लेकर भी ढेरों सवाल उठे। फिर जस्टिस जयंत पटेल ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय स्थानांतरित किये जाने के उपरांत नई शपथ लेने की जगह त्यागपत्र देकर कई सवाल खड़े करदिये। इस प्रश्न को लेकर स्थिति स्पष्ट नहीं हुई कि वे कर्नाटक हाईकोर्ट के चीफ जस्टिस या सुप्रीम कोर्ट के जज के रूप में प्रोन्नत किये जाने की जगह इलाहाबाद स्थानांतरित क्यों किये गए, वह भी तबजब उनके रिटायर होने में कुल दो महीने का समय बचा था। कुछ वरिष्ठ वकीलों ने यह मुद्दा भी उछाला कि शीर्ष अदालत परिसर से सत्तारूढ़ व्यवस्था का पक्ष लेने की प्रवृत्ति उभरती दिख रही है। जजों के हाथों जजों की नियुक्ति को लेकर उच्चतम स्तर की पारदर्शिता सुनिश्चित किये जाने को लेकर समय-समय पर चर्चाएं उठती रही हैं।

SC&bringing collegium decision in public domain

केरल और मद्रास उच्च न्यायालयों में जजों की नियुक्ति के मामले में नई नियुक्तियों की प्रक्रिया सार्वजनिक करके पारदर्शी व्यवस्था की ओर कदम बढ़ाने के संकेत भी दे दिये हैं। सुप्रीम कोर्ट के इसकदम की निश्चित रूप से प्रशंसा की जानी चाहिए।

A laudable initiative

यह कदम और भी सराहनीय स्वरूप अख्तियार कर लेगा यदि जजों के बाबत आंतरिक जांचों और सवाल-जवाब को आरटीआई के दायरे में लाकर पारदर्शिता का आधार व्यापक बना दिया जाए। सुप्रीमकोर्ट को नए जजों के नामों पर विचार के लिए एक सचिवालय के गठन के विचार पर भी गौर करना चाहिए। इस सचिवालय के ही माध्यम से संभावित जजों के नाम कॉलेजियम के सामने विचारार्थ पहुंचेंतो और भी अच्छा होगा। विवेचना के दौरान ऑडियो विजुअल रिकॉर्डिंग तो अब अन्य स्थानों पर आम प्रक्रिया का हिस्सा ही बन चुकी है, हां इस रिकॉर्डिंग को सार्वजनिक किये जाने के संवेदनशील मुद्देपर भी जरूर गौर किया जाना चाहिए।

जजों की निजी संपत्तियों की स्वैच्छिक घोषणा के मुद्दे पर भी भरोसेमंद व्यवस्था होनी चाहिए। 2012 में शुरू हुई यह व्यवस्था अभी भी पूरी तरह से लागू नहीं हो सकी है, आज की स्थिति में महज 13 जजों की संपत्तियों का ब्योरा ही कोर्ट की वेबसाइट पर नजर आ रहा है। फिलहाल नियुक्तियों में पारदर्शिता की ओर कदम बढ़ें तो उम्मीद की जानी चाहिए कि जनता को जजों की नियुक्ति से लेकर निष्पक्षता के बाबत भरोसेमंद पारदर्शिता देखने को मिलेगी।

4. कठघरे में जज

#Jansatta

न्यायपालिका में भ्रष्टाचार का सवाल अब कोई नई बात नहीं रह गई है। सीबीआई ने जिस तरह ओड़िशा उच्च न्यायालय के एक सेवानिवृत्त न्यायाधीश इशरत मसरूर कुदुसी सहित पांच अन्य लोगों को गिरफ्तार किया है, उसे पिछले कुछ सालों के दौरान न्यायपालिका पर उठते सवालों की ही अगली कड़ी के तौर पर देखा जा सकता है।

Background

गौरतलब है कि उत्तर प्रदेश स्थित प्रसाद इंस्टीट्यूट ऑफ मेडिकल साइंसेज में लचर सुविधाओं और आवश्यक मानदंडों को पूरा करने में नाकाम रहने की वजह से सरकार ने अगले दो सालों के लिए वहां मेडिकल के विद्यार्थियों के दाखिले पर रोक लगा दी थी। इसके अलावा, छियालीस अन्य संस्थानों पर भी सरकार ने यह कार्रवाई की थी। लेकिन विचित्र यह है कि जब कोई शैक्षिक न्यास नियम-कायदों को धता बताने की वजह से सरकार की कार्रवाई की जद में था तो उसे अवांछित तरीके से मदद पहुंचाने की जरूरत कुदुसी को क्यों पड़ी! इसमें आरोप सामने आने के बाद सीबीआई ने भारतीय दंड संहिता और भ्रष्टाचार निरोधक अधिनियम के तहत जब इस मामले में उन पर आपराधिक साजिश रचने के मामला दर्ज किया और दिल्ली, लखनऊ और भुवनेश्वर के अलग-अलग ठिकानों पर छापे मारे तो उसमें 1.91 करोड़ रुपए भी बरामद हुए।

Role of Judges

हालांकि जांच की अंतिम रिपोर्ट से इस मामले में किसी निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकेगा, लेकिन इतना साफ है कि अगर सीबीआई ने कुछ अन्य लोगों के साथ-साथ एक सेवानिवृत्त न्यायाधीश को गिरफ्तार किया है तो उसके पीछे मजबूत आधार होंगे। अब तक की कार्रवाई से साफ संकेत उभरे हैं कि अवैध रूप से मेडिकल इंस्टीट्यूट में दाखिला कराने वाले गिरोह के सुनियोजित भ्रष्टाचार में आरोपी न्यायाधीश भी शामिल थे। किसी न्यायाधीश के भ्रष्टाचार के आरोप में गिरफ्तार होने का यह कोई अकेला या पहला मामला नहीं है। दो साल पहले गुजरात में निचली अदालत के दो न्यायाधीशों को गुजरात हाईकोर्ट के सतर्कता प्रकोष्ठ ने भ्रष्टाचार निरोधक अधिनियम के तहत गिरफ्तार किया था। उन दोनों पर अदालत में पदस्थापना के दौरान मामलों का निपटारा करने के एवज में रिश्वत लेने का आरोप था। इसके अलावा, समय-समय पर जजों के भ्रष्ट आचरण को लेकर सवाल उठते रहे हैं। हालत यह है कि अगर किसी न्यायाधीश पर रिश्वत लेने या भ्रष्ट तरीके से किसी को लाभ पहुंचाने के आरोप लगते हैं तो अब पहले की तरह उस पर विश्वास करने में संकोच नहीं होता है। इसके बावजूद कभी ऐसे मामले सामने आते हैं या किसी पक्ष को न्यायाधीशों के भ्रष्ट आचरण में शामिल होने का संदेह होता है तो उसके खिलाफ शिकायत दर्ज कराना सहज नहीं होता है।

Need to have Corruption redressal system in Judiciary

दरअसल, अन्य क्षेत्रों के भ्रष्टाचार से निपटने के लिए जांच और कार्रवाई के तंत्र बने हुए हैं, लेकिन उच्च न्यायपालिका के संदर्भ में इसका अभाव रहा है। यही वजह है कि निचली अदालतों के स्तर पर फैले भ्रष्टाचार के मामले कभी-कभार सामने आ भी जाते हैं, लेकिन उच्च न्यायपालिका पर अंगुली उठाना आसान नहीं है। महाभियोग के प्रावधान तक मामला पहुंचने की जटिलता से सभी वाकिफ हैं। इसलिए जरूरत इस बात की है कि बाकी क्षेत्रों की तरह निचली या उच्च न्यायपालिका में भी भ्रष्टाचार की शिकायतों से निपटने के लिए एक ठोस और भरोसेमंद तंत्र बने। विडंबना यह है कि जिस महकमे और पद के बारे में सामान्य लोगों की धारणा यह है कि वहां से इंसोफ मिलता है, अगर उन्हीं पदों पर बैठे लोगों के आचरण भ्रष्ट पाए जाएं तो व्यवस्था के सबसे भरोसेमंद स्तंभ पर से विश्वास डगमगाता है

5. न्यायपालिका में न्यायाधीशों के रिक्त स्थान या सरकारों के मुकदमे लंबित मामलों के लिए जिम्मेदार

कई सालों ने न्यायपालिका में न्यायाधीशों के रिक्त स्थानों और अदालतों में लंबित मुकदमों का मामला लगातार चर्चा में बना है। न्यायपालिका और कार्यपालिका के बीच तो उच्चतर न्यायपालिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति भी अब कोई नया मुद्दा नहीं रह गया

कानून मंत्रालय द्वारा कराये गये एक अध्ययन के अनुसार यदि केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों से संबंधित अनावश्यक मुकदमों को अदालत से बाहर ले लिया जाये तो अदालतों में लंबित मुकदमों की संख्या में करीब 46 फीसदी तक की कमी हो सकती है। अब इन मुकदमों की छानबीन करके केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों को ही यह निर्णय लेना होगा कि इनमें कौन से विवाद ऐसे हैं, जिन्हें अदालत के बाहर वैकल्पिक उपायों के माध्यम से सुलझाया जा सकता है। ऐसे अनेक मुकदमे हैं, जिनमें केन्द्र सरकार के साथ ही दो या इससे अधिक राज्य सरकारें ही वादी और प्रतिवादी की भूमिका में हैं। इनमें ऐसे भी कई मुकदमे हैं, जिन्हें परस्पर विचार विमर्श करके सुलझाया जा सकता है लेकिन राजनीतिक बाध्यताओं के मद्देनजर शायद ऐसा करने का साहस राज्य नहीं कर पाते। इसमें राज्यों के बीच जल बंटवारे या फिर सीमा को लेकर चल रहे विवाद प्रमुख हैं।

Ministry wise cases”

- सबसे दिलचस्प तथ्य तो यह है कि अदालतों की शरण में जाने वाले मंत्रालयों में सबसे आगे रेलवे है, जिसके 67 हजार से अधिक मुकदमे लंबित हैं जबकि वित्त मंत्रालय से संबंधित विभागों के 15464 मुकदमे लंबित हैं।
- इसी तरह, संचार मंत्रालय के 12621, गृह मंत्रालय के 11600, रक्षा मंत्रालय के 3433, स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय के 3275, शहरी विकास मंत्रालय के 2306 और पर्यावरण एवं वन मंत्रालय के 1714 मुकदमे अदालतों में लंबित हैं।
- इनमें से अनेक मुकदमे तो कई सालों से चले आ रहे हैं। अकेले रेलवे में ही दस हजार से अधिक मुकदमे दस साल से अधिक समय से लंबित हैं। वाणिज्य और उद्योग मंत्रालय से संबंधित मुकदमों की संख्या सबसे अधिक होने की अटकलें लगायी जाती हैं लेकिन इस मंत्रालय से संबंधित सिर्फ 1430 प्रकरण ही अदालतों में लंबित हैं जबकि श्रम और रोजगार मंत्रालय से संबंधित मुकदमों की संख्या 1774 है।
- कानून मंत्रालय ने अदालतों में लंबित केन्द्र सरकार से संबंधित मुकदमों का विश्लेषण कराया तो पता चला कि उसके 55 मंत्रालयों में से कम से कम दस मंत्रालयों से संबंधित मुकदमे सबसे अधिक हैं।

Nature of cases:

इनमें नौकरी से संबंधित तबादला, पदोन्नति और ऐसे ही दूसरे मुद्दों से जुड़े मुकदमों के अलावा दो सरकारी विभागों और दो सार्वजनिक उपक्रमों के बीच विवाद भी शामिल हैं। शायद ऐसे विवादों को अदालत तक पहुंचने से पहले संबंधित विभागों के वरिष्ठ अधिकारी आपस में विचार विमर्श करके सुलझा सकते हैं लेकिन फिर सवाल वही है कि फैसला कौन ले।

बेहतर होता यदि कानून मंत्रालय ने यह अध्ययन और विश्लेषण भी कराया होता कि इन मुकदमों पर कितना धन खर्च हुआ और क्या ऐसे विवादों को अदालत तक पहुंचने से रोकने के प्रयास किये गये थे? शायद नौकरशाही भी नहीं चाहती कि किसी विवाद का निर्णय लेकर भविष्य में राजनीतिक वजहों से परेशानी में पड़ा जाये। प्राप्त जानकारी के अनुसार अदालतों में लंबित तीन करोड़ से अधिक मुकदमों में से उच्चतम न्यायालय में 60,750 मुकदमे लंबित हैं जबकि देश के 24 उच्च न्यायालयों में लंबित मुकदमों की संख्या करीब 40 लाख है। शेष मुकदमे निचली अदालतों में लंबित हैं।

केन्द्र सरकार ने ऐसे सभी विवादों को अपने विभाग के पोर्टल पर अपलोड करने का निर्देश देने के साथ ही इन मंत्रालयों में संयुक्त सचिव स्तर का एक नोडल अधिकारी नियुक्त किया है ताकि इनके समाधान के लिये वैकल्पिक तरीके अपनाने के लिये विभागों में समन्वय स्थापित किया जा सके। इन अधिकारियों को यह भी निर्देश है कि व्यर्थ के मुकदमों को तत्काल वापस लेने की प्रक्रिया शुरू की जाये। कानून मंत्रालय के इस अध्ययन के बाद उम्मीद की जानी चाहिए कि केन्द्र सरकार अदालतों में लंबित उससे संबंधित अनावश्यक मुकदमों को वापस लेने की दिशा में अधिक तेजी से प्रयास करेगी और राज्य सरकारों को भी इस दिशा में ठोस कदम उठाने के लिये प्रेरित करेगी।

6. न्यायिक सक्रियता (Judicial Activism) संवैधानिक मूल्यों की हिफाजत के लिए है विधायिका के अधिकारों पर अतिक्रमण के लिए नहीं

बीते माह राष्ट्रमंडल संसदीय संघ-भारत प्रक्षेत्र का पटना में आयोजित छठा सम्मेलन कई मायनों में महत्वपूर्ण रहा। इस सम्मेलन में विभिन्न राज्यों की विधायिका के प्रतिनिधियों के अलावा राष्ट्रमंडल संसदीय संघ की सभापति एवं महासचिव के अलावा दूसरे प्रक्षेत्रों के कई विदेशी प्रतिनिधि भी शामिल हुए। राष्ट्रमंडल देशों के विधायी निकायों का यह एक संगठन है जिसमें प्रचलित विधायी प्रणालियों के संबंध में विमर्श होता है। उनमें उत्तम प्रचलन अन्य को जानने, समझने एवं अपनाने का मौका मिलता है। इस संगठन का लक्ष्य प्रजातंत्र एवं इससे जुड़ी संस्थाओं को मजबूती प्रदान करना होता है। सम्मेलन में इसके अलावा विधायिका से जुड़े ज्वलंत एवं समसामयिक मुद्दों पर विमर्श होता है। पटना में आयोजित इस सम्मेलन में विमर्श के मुद्दों में सबसे महत्वपूर्ण था- 'विधायिका एवं न्यायपालिका लोकतंत्र के दो मजबूत स्तंभ।' इस विषय पर सम्मेलन में पूरे एक दिन चर्चा हुई। लगभग 15 प्रतिनिधियों ने इस पर अपने विचार रखे जिसमें विधानसभाओं के अध्यक्ष, उपाध्यक्ष एवं विधायिका के अन्य प्रतिनिधि मंडल शामिल थे। इस विमर्श ने विधायिका एवं न्यायपालिका के आपसी संबंधों पर एक बार फिर से ध्यान खींचा है। प्रतिनिधियों की सर्वसम्मत राय थी कि संविधान की मूल भावना के अनुसार विधायिका और न्यायपालिका को एक दूसरे के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए एक दूसरे के अधिकारों के अतिक्रमण से बचना चाहिए।

न्यायपालिका द्वारा विधायिका के अधिकार क्षेत्र में अतिक्रमण

एक बात स्पष्ट रूप से सामने आई कि न्यायिक सक्रियता के इस काल में न्यायपालिका द्वारा विधायिका के अधिकार क्षेत्र में अतिक्रमण से दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति पैदा होती है। इस संबंध में विशेष रूप से उत्तराखंड प्रकरण एवं राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग अर्थात एनजेएसी एक्ट की चर्चा अनेक प्रतिनिधियों ने की। इन मामलों का अंतिम पड़ाव जो भी हुआ हो, लेकिन विधायिका के अधिकारों का अतिक्रमण तो दिखता ही है।

एक दूसरे के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए

संविधान ने विधायिका एवं न्यायपालिका के कार्यक्षेत्र को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया है और एक दूसरे के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप का निषेध किया है। अनुच्छेद 121 एवं 211 जहां क्रमशः संसद अथवा विधानसभाओं द्वारा न्यायपालिका की कार्यशैली अथवा गतिविधियों की चर्चा को निषेध करता है वहीं अनुच्छेद 122 और 212 क्रमशः संसद या विधानसभाओं की कार्यवाही अथवा प्रक्रिया की विधि मान्यता पर न्यायपालिका द्वारा प्रश्न उठाने को निषेध करता है। हमारे संविधान निर्माताओं द्वारा इन धाराओं को साथ-साथ अंकित करने की मंशा स्पष्ट है कि दोनों अपने-अपने कार्यक्षेत्र में स्वतंत्र हैं और एक दूसरे के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप निषिद्ध है। भारतीय संविधान की एक प्रमुख विशेषता न्यायिक समीक्षा का सिद्धांत है। हमारा संविधान न्यायपालिका को संविधान एवं मौलिक अधिकारों का रक्षक बताता है। न्यायिक समीक्षा के सिद्धांत के तहत विधायिका द्वारा पारित अधिनियम की समीक्षा का अधिकार न्यायपालिका को प्राप्त है। इसके तहत न्यायपालिका किसी कानून के द्वारा संविधान के मूल ढांचे के हनन को रोकती है। दूसरे, संविधान के निर्वचन का अंतिम अधिकार भी न्यायपालिका के पास है।

भारत में ही यह संभव है कि न्यायाधीश ही न्यायाधीशों की नियुक्ति करें

न्यायिक नियुक्तियों के मामले को देखा जाए तो स्पष्ट है कि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाएगी और यदि वह आवश्यक समझेंगे तो मुख्य न्यायाधीश या संबंधित उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श करेंगे, परंतु न्यायपालिका द्वारा निर्वचन के अंतिम अधिकार एवं न्यायिक समीक्षा के अधिकार का उपयोग कर न्यायाधीशों की नियुक्ति के अधिकार स्वयं हासिल कर लिए हैं। विश्व के किसी भी देश में यह व्यवस्था नहीं है कि न्यायाधीश ही न्यायाधीशों की नियुक्ति करें, लेकिन भारत में ऐसा ही है। न्यायिक सक्रियता से अवांछनीय स्थिति पैदा होती है। व्यावहारिक रूप से भारतीय संविधान में शक्तियों का पृथक्करण न होकर दायित्वों के पृथक्करण का सिद्धांत अपनाया गया है।

विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका संप्रभु नहीं हैं

सरकार के तीनों अंगों विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका को अपने-अपने क्षेत्रों में स्वतंत्र एवं सर्वोच्च तो बनाया है, परंतु किसी को भी संप्रभु नहीं बनाते हुए अपने-अपने दायरे से बाहर नहीं जाने की अपेक्षा की गई है। इस प्रयोजन से लागू 'नियंत्रण एवं संतुलन' यानी चेक एंड बैलेंस का सिद्धांत भारतीय संविधान की खास विशेषता मानी जाती है। किसी अंग द्वारा संविधान की भावना के विपरीत कार्य करने की स्थिति में उसे नियंत्रित करने की व्यवस्था है और तीनों अंगों में संतुलन की अपेक्षा की गई है। यहां यह विचारणीय है कि विधायिका या कार्यपालिका द्वारा अपनी हद पार करने अथवा अपना दायित्व न निभाने की स्थिति में न्यायिक हस्तक्षेप की अवधारणा है, परंतु न्यायिक सक्रियता से उत्पन्न दूसरे अंगों के अधिकारों के अतिक्रमण के समय इसके नियंत्रण के प्रावधान का निहायत अभाव दिखता है। इसी कारण अतिक्रमण की स्थिति में विधायिका या कार्यपालिका के पास पीड़ा व्यक्त करने के अलावा और कोई विकल्प नहीं है। न्यायिक सक्रियता से उत्पन्न होने वाली विसंगतियों का अंदेशा संविधान सभा के सदस्यों द्वारा उसी समय व्यक्त किया गया था।

जवाबदेही एवं पारदर्शिता का सिद्धांत दुनिया भर में लागू है

संविधान सभा के विद्वान सदस्य ए कृष्णास्वामी अय्यर ने कहा था कि वैयक्तिक स्वतंत्रता की हिफाजत एवं संविधान के सही क्रियान्वयन हेतु एक स्वतंत्र न्यायपालिका की आवश्यकता है, परंतु न्यायपालिका की स्वतंत्रता के सिद्धांत को इस हद तक नहीं बढ़ाया जाए कि न्यायपालिका उच्च-विधायिका या उच्च-कार्यपालिका के रूप में कार्य करने लगे। स्पष्ट है कि नियंत्रण के प्रावधान के अभाव में इस तरह की आशंका का उसी वक्त अनुमान लगा लिया गया था पर कुछ सदस्य न्यायपालिका द्वारा दूसरे अंगों के अधिकारों के अतिक्रमण की कल्पना भी नहीं करते थे। संविधान सभा के सदस्य केएम मुंशी ने साफ तौर पर यह कहा था कि न्यायपालिका कभी संसद पर अपना प्रभुत्व नहीं थोपेगी। किसी भी क्षेत्र में जवाबदेही एवं पारदर्शिता का सिद्धांत दुनिया भर में लागू है। भारत में कार्यपालिका एवं विधायिका के अलावा अन्य क्षेत्रों में इन सिद्धांतों को लागू करने के निर्देश न्यायपालिका द्वारा बराबर दिए गए हैं। यह भी सही है कि न्यायिक हस्तक्षेप के कारण कई बड़े-बड़े घोटाले उजागर हुए हैं और दोषी कानून की गिरफ्त में आए हैं, परंतु इसी जवाबदेही एवं पारदर्शिता के सिद्धांत को न्यायपालिका अपनी व्यवस्था एवं प्रणाली में क्यों नहीं लागू करना चाहती है, यह समझ से परे है।

सरकार के सभी अंग एक दूसरे का सम्मान कर समन्वय से कार्य करें

अगर न्यायपालिका की तरह अन्य संस्थाएं यह तर्क देकर उसके अधिकार क्षेत्र में दखल नहीं दे सकतीं कि वह अपना काम सही तरह नहीं कर रही तो फिर न्यायपालिका को भी ऐसा नहीं करना चाहिए। कुल मिलाकर निष्कर्ष यही निकलता है कि सरकार के सभी अंग एक दूसरे का सम्मान कर समन्वय से कार्य करें तभी लोकतंत्र और इससे जुड़ी संस्थाएं मजबूत होंगी। न्यायिक सक्रियता भी संवैधानिक मूल्यों और प्रावधानों की हिफाजत के लिए होनी चाहिए न कि अन्य संस्थाओं के अधिकारों के अतिक्रमण के लिए। चूंकि न्यायपालिका स्वयं सक्षम है इसलिए उससे स्व-नियामक की भूमिका निभाने की भी अपेक्षा की जाती है।

THE CORE IAS

(www.gshindi.com)

Current Editorial Based Answer Writing

FAST TRACK COURSE for Mains 2018
500+ CURRENT ISSUES Coverage
(10 Question x 50 Days = 500)

500 + Question For Geography Optional Classes

Like You The Core IAS

Add. : Chamber No. 3, IInd Floor, Batra Complex,
Mukherjee Nagar, Delhi-110009

8800141518

9540297983

Supreme Court Decisions

1. राष्ट्रगीत पर मुहर

राष्ट्रगीत के रूप में 'वंदे मातरम' के गायन पर लंबे समय से विवाद होता रहा है। अक्सर इसे गाने को लेकर किसी राज्य में सरकारी आदेश जारी किए जाते हैं या फिर कुछ राजनीतिक दलों की ओर से मांग उठाई जाती है। लेकिन आमतौर पर हर बार इसे लेकर सवाल उठने लगते हैं और मामला किसी निष्कर्ष तक नहीं पहुंच पाता है।

Recent context

अब मद्रास हाईकोर्ट ने कहा कि तमिलनाडु के स्कूल, कॉलेजों सहित सरकारी संस्थानों में सप्ताह में एक दिन जरूर वंदे मातरम का सामूहिक गायन कराया जाए।

- इससे पहले इस सवाल पर सहमति या असहमति के स्वर राजनीतिक हलकों में ही उठते रहे हैं, लेकिन इस बार अदालत ने इस गीत को गाने के पक्ष में फैसला सुनाया है, इसलिए 'वंदे मातरम' के गायन को लेकर स्थिति साफ होने की उम्मीद बंधी है।
- गौर करने वाली बात है कि अब तक इसे गाने को लेकर की जाने वाली मांग में इससे असहमत पक्षों की दलील को खारिज किया जाता रहा है, वहीं मद्रास हाईकोर्ट के जस्टिस एमवी मुरलीधरन ने साफ लहजे में कहा है कि अगर किसी व्यक्ति या संस्थान को इस राष्ट्रगीत को गाने से समस्या है तो उनके साथ जोर-जबर्दस्ती नहीं की जाएगी, अगर उनके पास इसकी पुख्ता वजह हो। दरअसल, इस गीत को गाने या नहीं गाने के मसले पर विवाद का बिंदु यही रहा है।
- खासतौर पर मुसलिम संगठनों की ओर से अक्सर यह कहा जाता है कि इस्लाम के मुताबिक अल्लाह के सिवा किसी और की इबादत करने की इजाजत नहीं है, इसलिए 'वंदे मातरम' का गायन मुश्किल है।
- जबकि इसे गाने की मांग उठाने वालों का मानना है कि यह गीत राष्ट्र के प्रति समर्पित है और किसी भी देशभक्त को 'वंदे मातरम' के गायन में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।
- इस मामले की सुनवाई के दौरान जस्टिस एमवी मुरलीधरन ने कहा भी कि देशभक्ति इस देश के हरेक नागरिक के लिए जरूरी है और सबको यह समझना चाहिए कि देश मातृभूमि होता है।

इसमें कोई शक नहीं कि देश के प्रति आस्था को प्रदर्शित करने के लिए कई तरह की भावनात्मक अभिव्यक्तियां गढ़ी जाती हैं, राष्ट्रगीत भी उनमें से एक है। इसलिए इसके गायन के मसले पर विवाद एक दुखद स्थिति है।

यह भी ध्यान रखने की जरूरत है कि राष्ट्र के प्रति अपनी भावनाएं जाहिर करने के तय मानदंड ऐसे हों, जिसमें सभी नागरिक अपनी स्वाभाविक नुमाइंदगी महसूस करें। यों भी, कोई खास अभिव्यक्ति किसी के देशभक्त होने या न होने का अंतिम मानक नहीं होना चाहिए और इसके लिए किसी को शक के कठघरे में खड़ा नहीं किया जा सकता।

यों इस मसले पर विवाद का कारण जितना इस गीत से जुड़ा भाव रहा है, उससे ज्यादा यह इसके समर्थक और विरोधियों के बीच टकराव की वजह से चर्चा में रहा है। इसके गायन की मांग करने वाले लोग जहां इसे थोपने तक की वकालत करते हैं, वहीं इससे इनकार करने वाले लोग इस पर अपनी धार्मिक आस्था का हवाला देते हैं। इसी वजह से यह मुद्दा संवेदनशील रहा है। दूसरी ओर, इसे लेकर आम लोग सहज हैं और

यहां तक कि मुसलिम समुदाय के बीच से भी इसके गायन को विवाद का विषय नहीं बनाने के लिए अक्सर आवाजें उठती रही हैं। खुद मुसलिम पृष्ठभूमि से आने वाले संगीतकार एआर रहमान ने 'वंदे मातरम' को अपनी बनाई धुन पर गाया और वह सभी समुदायों के बीच बेहद लोकप्रिय हुआ है। जाहिर है, देश के प्रति भावनात्मक अभिव्यक्तियां अगर बिना किसी दबाव के सामने आए तो अपनी गहराई और असर में वे स्थायी

2. कर्नाटक का अलग ध्वज की मांग करना उचित या अनुचित?

Issue of debate?

जब देश एक है, एक संविधान है और राष्ट्रीय ध्वज भी एक है, फिर कर्नाटक को अलग क्षेत्रीय झंडा क्यों चाहिए?

- यदि राज्य का अलग झंडा होगा तो क्या यह हमारे राष्ट्रीय ध्वज के महत्व को कम नहीं करेगा?
- ऐसा होने पर लोगों में प्रांतवाद की भावना बढ़ने की आशंका है।
- राज्य सरकार यह सुनिश्चित कैसे करेगी कि अलग क्षेत्रीय झंडे के बावजूद वहां के नागरिकों की आस्था राष्ट्रीय ध्वज के प्रति पूर्ववत् बनी रहेगी?

हालांकि इन सवालों का जवाब जानना जितना जरूरी है, उतना ही जरूरी यह समझना है कि क्षेत्रीय झंडे को महत्व देने का मतलब राष्ट्रीय झंडे को अस्वीकृति देना कतई नहीं होता। अमेरिका, जर्मनी तथा ऑस्ट्रेलिया जैसे संघीय व्यवस्था वाले अनेक देशों में राष्ट्रीय अस्मिता के साथ राज्यों को अलग क्षेत्रीय पहचान बनाए रखने की छूट दी गई है। म्यांमार में तो हर क्षेत्र के अलग झंडे हैं।

Is this demand Valid??

इस आधार पर हम देखते हैं तो कर्नाटक सरकार की मांग जायज लगती है लेकिन, दूसरी तरफ प्रश्न यह भी उठेंगे कि एक राष्ट्रीय झंडे से राज्य सरकार को परेशानी क्या है?

झंडे के प्रति प्रेम और आदर का भाव होना जरूरी है जब, तिरंगे के प्रति सम्मान की भावना नहीं रह पा रही है तो, उस लाल-पीले झंडे के प्रति कैसे रहेगी, जिसे अपनाने के लिए कर्नाटक सरकार संविधान का हवाला तक दे रही है। कर्नाटक के बाद अन्य राज्य भी ऐसी मांग करेंगे। इस तरह देश में क्षेत्रीयता की भावना हावी होती जाएगी और राष्ट्र के तौर पर हम भीतर से खोखले होते जाएंगे।

What problem can arise in Future?

- इस तरह की विभाजनकारी राजनीति राष्ट्रीय एकता एवं प्रगति में बाधक साबित होगी। क्षेत्रीय तथा भाषायी आधार पर देश पहले ही खंड-खंड हो चुका है।
- बाद में जनजातीय और भौगोलिक आधार पर भी राज्यों का बंटवारा हुआ। आ
- ज भी गोरखालैंड, पूर्वांचल, विदर्भ को अलग राज्य बनाने की मांग जारी है।
- बहरहाल, प्रत्येक स्वतंत्र राष्ट्र का अपना एक चिह्न या प्रतीक होता है, जिससे उसकी पहचान बनती है। राष्ट्रीय ध्वज हर राष्ट्र के गौरव तथा देश की एकता, अखंडता और सम्प्रभुता का प्रतीक भी होता है। राष्ट्रीय ध्वज एक ही हो और उसके प्रति आस्था बनी रहनी चाहिए।

Election Reform

1. दागियों के दोष से मुक्त हो सियासत

#NAI DUNIYA

Recent context

सुप्रीम कोर्ट ने बीते दिनों केंद्र सरकार को सांसदों और विधायकों के खिलाफ आपराधिक मुकदमों की जल्द सुनवाई के लिए विशेष अदालतों के गठन का निर्देश दिया। राजनीति के अपराधीकरण के खिलाफ सर्वोच्च अदालत की इस पहल को सराहनीय माना जा रहा है, पर इससे जुड़े कुछ अन्य महत्वपूर्ण सवाल और मुद्दे भी हैं, जो दशकों से अनुत्तरित हैं।

- पहला अहम सवाल तो यही कि क्या गवाहों की सुरक्षा के बिना अत्यंत प्रभावशाली लोगों के खिलाफ जारी किसी मुकदमे को उनकी तार्किक परिणति तक पहुंचाया जा सकता है?
- क्या अधिकतर विवेचना अधिकारियों की मौजूदा लचर कार्यशैली में सुधार के बिना सुप्रीम कोर्ट का उद्देश्य पूरा हो पाएगा? क्या नार्को टेस्ट और ब्रेन मैपिंग पर रोक से संबंधित खुद के 2010 के आदेश को पलटते बिना सुप्रीम कोर्ट के ताजा आदेश का सकारात्मक असर हो पाएगा?

देश के राजनीतिक तंत्र को दागियों से मुक्त करने के लिए सुप्रीम कोर्ट की ओर से कुछ अन्य दिशा-निर्देश भी आने चाहिए। यह ध्यान रहे कि पुलिस हत्या जैसे संगीन जुर्म के मामले में भी जितने लोगों के खिलाफ अदालतों में आरोप पत्र दाखिल करती है, उनमें से सिर्फ 10 प्रतिशत आरोपितों को ही सजा हो पाती है। दुष्कर्म या बलात्कार के मामले में यह प्रतिशत सिर्फ 12 है। अधिकतर मामलों में गवाह अदालत में जाकर पलट जाते हैं, क्योंकि वे अपार राजनीतिक, प्रशासनिक और बाहुबल की ताकत से लैस आरोपियों के सामने टिक नहीं पाते हैं।

Lesson from Other Countries

अमेरिका और फिलीपींस सहित दुनिया के कई देशों में गवाहों की सुरक्षा के लिए कई कानूनी और अन्य उपाय किए गए हैं। अमेरिका में 8500 गवाहों और उनके 9900 परिजनों को 1971 से ही मार्शल सर्विस सुरक्षा दे रही है। खुद अपने यहां सुप्रीम कोर्ट ने पिछले साल केंद्र सरकार को निर्देश दिया था कि वह गवाहों की सुरक्षा के उपाय करे। 1958 में विधि आयोग ने भी गवाहों की सुरक्षा के उपाय करने के लिए केंद्र सरकार को सुझाव दिए थे, पर कुछ नहीं हुआ। इस तरह की अनेक खामियों के कारण आपराधिक मामलों में पूरे देश में सजा का औसत प्रतिशत सिर्फ 45 है। 1953 में यह प्रतिशत 64 था। सीबीआई थोड़ा बेहतर नतीजे जरूर देती है, फिर भी विकसित देशों के मुकाबले यहां की स्थिति दयनीय ही कही जाएगी। अमेरिका में सजा का प्रतिशत 93 है, तो जापान में 99 प्रतिशत। अपने देश में सत्तर के दशक से ही सजा के प्रतिशत में गिरावट शुरू हो गई थी।

- यह संयोग नहीं है कि राजनीति के अपराधीकरण का भी वही शुरुआती दौर था। जिन राज्यों में राजनीति का अपराधीकरण अधिक हुआ है, उनमें सजा का प्रतिशत भी अन्य राज्यों की अपेक्षा कम है। न सिर्फ गवाह ताकतवर आरोपी के प्रभाव में आ जाते हैं, बल्कि अनेक जांच अधिकारी भी रिश्वत के प्रभाव से

बच नहीं पाते। वैसे भी पुलिस में भ्रष्टाचार का क्या हाल है, यह किसी से छिपा नहीं है। इसलिए गवाहों की सुरक्षा के साथ-साथ मामले की जांच के काम में लगे अधिकारियों पर भी नजर रखने का विशेष प्रबंध करना पड़ेगा। बेहतर तो यह होगा कि धनवान लोगों के केस देखने वाले जांच अधिकारियों पर भ्रष्टाचार विरोधी दस्ते नजर रखें

- समयसीमा के भीतर सांसदों-विधायकों के खिलाफ चल रहे आपराधिक मुकदमों की सुनवाई के मामले में कोई भी ढील आरोपितों को मदद पहुंचाने के समान ही होती है। सजा के बाद पूरे जीवन में फिर कभी चुनाव नहीं लड़ने के प्रावधान का भी सवाल सामने है। दरअसल ऐसा किए बिना लोकतंत्र को इस गंदगी से मुक्त नहीं किया जा सकता, किंतु इस पर केंद्र सरकार की शुरुआती प्रतिक्रिया से कोई खास उम्मीद नहीं बंधती, क्योंकि आजीवन प्रतिबंध लगाने की याचिकाकर्ता की मांग पर सरकारी वकील ने गत एक नवंबर को सुप्रीम कोर्ट में कहा कि 'इस पर विचार हो रहा है। सरकारी सूत्रों ने अलग से बताया कि इस पर तो राजनीतिक दलों में आम सहमति की जरूरत पड़ेगी।

Lack of political consensus

समस्या है कि ऐसे मामलों में राजनीतिक दलों में आमतौर पर कोई सहमति नहीं बन पाती, क्योंकि यह सांसदों के वेतन-भत्ते और सुविधाएं बढ़ाने का मामला तो है नहीं! उस पर तो आम सहमति कायम होने में कभी कोई देर नहीं होती। इसी आम सहमति के चक्कर में राजग सरकार को 2002 में फजीहत झेलनी पड़ी थी। क्या राजग सरकार मौजूदा मामले में भी उसकी पुनरावृत्ति चाहती है? पता नहीं। याद रहे कि सुप्रीम कोर्ट ने 2002 में सख्त आदेश देकर केंद्र सरकार के उस निर्णय को बदल दिया था जिसके तहत केंद्र सरकार ने उम्मीदवारों के बारे में निजी सूचनाएं देने की पहले मनाही कर दी थी। उम्मीदवारों के लिए शैक्षणिक योग्यता, आपराधिक मुकदमे और संपत्ति का ब्यौरा देना जरूरी तभी हो सका था, जब सुप्रीम कोर्ट ने 2002 में ऐसा करने के लिए केंद्र सरकार को स्पष्ट आदेश दिया। उससे पहले केंद्र सरकार इसके लिए तैयार ही नहीं थी। केंद्र सरकार ने तब सुप्रीम कोर्ट के इस निर्णय को पसंद नहीं किया था। अधिकतर राजनीतिक दल भी नहीं चाहते थे कि ऐसी व्यक्तिगत सूचनाएं जगजाहिर की जाएं। नतीजतन सुप्रीम कोर्ट के इस निर्णय को बेअसर करने के लिए केंद्र सरकार ने तब राष्ट्रपति से अध्यादेश जारी करवा दिया। बाद में उसे संसद ने पारित करके कानून का भी दर्जा दे दिया, पर सुप्रीम कोर्ट ने उस कानून को रद्द कर दिया। उसके बाद ही ये सूचनाएं चुनाव में नामांकन पत्र भरने के साथ उम्मीदवार देने को बाध्य हो रहे हैं। यानी जिस देश के अधिकतर राजनीतिक दल और नेतागण अपने बारे में सामान्य सूचनाएं भी सार्वजनिक करने को तैयार नहीं, वे अपराधियों को चुनाव लड़ने से हमेशा के लिए रोकने के लिए खुद कोई कानून बनाने को तैयार हो जाएंगे, ऐसा फिलहाल लगता नहीं है।

याद रहे कि जनहित याचिकाकर्ता 'लोक प्रहरी और भाजपा नेता अश्विनी उपाध्याय ने सुप्रीम कोर्ट से यह गुहार लगाई है कि सजायाफ्ता नेताओं को चुनाव लड़ने से हमेशा के लिए वंचित कर दिया जाना चाहिए, क्योंकि सरकारी कर्मचारी या जज को सजा हो जाए तो उन्हें फिर से नौकरी नहीं मिलती। यह समानता के अधिकार से संबंधित संवैधानिक प्रावधान के खिलाफ है कि सजा की अवधि पूरी कर लेने के छह साल बाद नेता फिर से चुनाव लड़ने के योग्य माने जाएं। उम्मीद है कि 13 दिसंबर को जब इस मामले की अगली सुनवाई होगी तो केंद्र सरकार आजीवन प्रतिबंध के मामले में अपनी अंतिम राय सर्वोच्च न्यायालय को बता पाएगी। चुनाव आयोग तो ऐसे प्रतिबंध के पक्ष में पहले से ही है। खुद सुप्रीम कोर्ट को इस पर विचार करना होगा कि 2010 के उसके ही एक निर्णय का आपराधिक न्यायिक प्रक्रिया पर कैसा असर पड़ रहा है? सुप्रीम कोर्ट ने मई 2010 में यह कहा था कि अभियुक्त की सहमति के बिना उसका न तो नार्को एनालिसिस टेस्ट हो सकता है और न ही ब्रेन मैपिंग। उस पर झूठ पकड़ने वाली मशीन का भी इस्तेमाल नहीं हो सकता। अब

इस पर विचार करने की जरूरत है कि इस आदेश के बाद जांच अधिकारियों को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। याद रहे कि 2010 के बाद से जाने-माने कानून-उल्लंघनकर्ता अक्सर ऐसी जांच से साफ इनकार करते आ रहे हैं

2. असल चुनाव सुधारों का इंतजार

Recent context

सुप्रीम कोर्ट के समक्ष इस समय सांसदों और विधायकों के मामलों से जुड़ी दो जनहित याचिकाएं लंबित हैं। इन याचिकाओं में मांग की गई है कि चुनाव लड़ते समय दायर किए जाने वाले हलफनामे में दी गई जानकारी यदि गलत पाई जाए तो चुनाव बाद उनके खिलाफ कड़ी कार्रवाई की जाए। इनमें उनके द्वारा घोषित संपत्ति और देनदारी के अलावा आपराधिक ब्योरे जैसे पहलुओं को शामिल किया गया है। साथ ही आय से अधिक संपत्ति के पैमाने को भी जोड़ा गया है।

Cases filed for election reform

- इनमें से एक मामला लोक प्रहरी नाम की गैर सरकारी संस्था यानी एनजीओ ने दायर किया है। इसमें याचिकाकर्ता की दलील है कि शपथपत्र दाखिल करते समय केवल संपत्ति की घोषणा ही काफी नहीं है। उसका कहना है कि प्रत्येक प्रत्याशी के लिए आमदनी के स्रोत का उल्लेख भी अनिवार्य बनाया जाए, क्योंकि दो चुनावों के दौरान तमाम सांसदों और विधायकों की संपत्ति में कई गुने का इजाफा देखने को मिलता है। उसने अदालत को बताया कि 2014 में लोकसभा के लिए पुनः चुने गए 320 सांसदों की संपत्ति में 100 प्रतिशत तक की बढ़ोतरी हुई। इनमें से भी छह सांसदों की संपत्ति में तो 1000 फीसद की हैरतअंगेज उछाल दिखी और 26 सांसदों की संपत्ति 500 प्रतिशत तक बढ़ी। तमाम विधायकों की धन-संपदा में अप्रत्याशित उछाल देखने को मिली। इन सांसदों-विधायकों की संपत्ति की जांच करने के बाद आयकर अधिकारियों ने अदालत को बताया कि सात सांसदों और 98 विधायकों की संपत्ति उनके चुनावी हलफनामे में उल्लिखित आमदनी से अधिक पाई गई। शीर्ष अदालत ने केंद्र सरकार को निर्देश दिया कि सांसदों और विधायकों से जुड़े आय से अधिक संपत्ति के मामलों की त्वरित सुनवाई के लिए विशेष अदालतें गठित की जानी चाहिए।
- दूसरे मामले में याचिकाकर्ता ने कहा कि भले ही शीर्ष अदालत ने यह सुनिश्चित कराया हो कि शपथपत्र में प्रत्याशी संपत्ति और देनदारी, शैक्षणिक योग्यता और आपराधिक ब्योरे का उल्लेख करें, लेकिन उसमें किए गए दावों की सत्यता की पुष्टि के लिए कोई तंत्र नहीं है। साथ ही गलत हलफनामे दाखिल करने वालों को सजा देने के लिए भी कोई व्यवस्था नहीं है। याचिकाकर्ता ने कहा कि यह चुनावी प्रक्रिया को पारदर्शी बनाने की शीर्ष अदालत की कोशिशों का ही नतीजा है कि प्रत्याशियों के लिए तमाम तरह की जानकारियां देना अनिवार्य हो गया है, लेकिन उन जानकारियों को परखने की कोई उचित व्यवस्था नहीं है। इसकी सख्त जरूरत है।

Court's Position

इस पर अदालत ने केंद्र सरकार और चुनाव आयोग से जवाब मांगा है। इन दो मामलों में आने वाले फैसले ही तय करेंगे कि हम चुने हुए जनप्रतिनिधियों को कानूनों के प्रति किस हद तक जवाबदेह बना पाएंगे? यह ध्यान रहे कि नेताओं को सभी मामलों में पारदर्शी बनाना किसी भी सूरत में आसान नहीं रहा है।

- इस मामले में सबसे पहले विधि आयोग ने कदम उठाए थे जब चुनाव सुधारों पर 1999 में पेश अपनी 170 पन्नों की रिपोर्ट में उसने कहा था कि जनप्रतिनिधित्व अधिनियम, 1951 में निश्चित रूप से संशोधन किया जाए और उसमें संपत्ति-देनदारी और आपराधिक ब्योरे से जुड़ा हलफनामा अनिवार्य बनाएं।
- हालांकि चुने हुए जनप्रतिनिधि इस पर कुंडली मारकर बैठे रहे, क्योंकि चुनावी प्रक्रिया में पारदर्शिता-जवाबदेही लाने वाला कोई भी सुधार उन्हें कभी रास नहीं आया। आखिरकार राजनीतिक बिरादरी को तब यह प्रस्ताव स्वीकार करने को मजबूर होना पड़ा जब इस मामले में हस्तक्षेप करते हुए सुप्रीम कोर्ट ने इन प्रावधानों को लगभग एक कानून की शकल दे दी। शीर्ष अदालत ने चुनाव आयोग को निर्देश दिया कि वह हलफनामे दाखिल कराना सुनिश्चित कराए जिसमें अगर प्रत्याशी का कोई आपराधिक इतिहास रहा है तो उसका भी उल्लेख हो।
- सभी हलकों से पड़ने वाले दबाव को देखते हुए संसद ने सुप्रीम कोर्ट के फैसले में आंशिक रूप से बदलाव करते हुए यह तय किया कि आपराधिक मामले में अदालत से दोष सिद्ध हुए मामले का ही हलफनामे में उल्लेख करना होगा। उसके अनुसार संपत्ति, देनदारी और शैक्षिक योग्यता सहित चुनाव प्राधिकरण द्वारा मांगी गई किसी तरह की अन्य जानकारी देने की जरूरत नहीं।

इन प्रावधानों को एक अन्य मामले में चुनौती दी गई और एक बार फिर सुप्रीम कोर्ट को दखल देना पड़ा और उसने अपने पुराने आदेश को निष्प्रभावी बनाने को असंवैधानिक करार दिया। परिणामस्वरूप सभी वांछित पहलुओं के आधार पर प्रत्याशियों को शपथपत्र दाखिल करना अनिवार्य हो गया। अब कानून के अनुसार सांसद और विधायक पद के सभी प्रत्याशियों को अपनी संपत्ति, देनदारी और अगर कोई आपराधिक रिकॉर्ड रहा है तो उसकी जानकारी हलफनामे में देना जरूरी है।

हलफनामे में प्रत्याशी का पैन नंबर, आयकर रिटर्न, जीवनसाथी और सभी आश्रितों का ब्योरा, प्रत्याशी, जीवनसाथी और उसके आश्रितों की संपूर्ण चल-अचल संपत्ति के ब्योरे के साथ ही सभी सरकारी एवं सार्वजनिक वित्तीय संस्थानों की देनदारी का उल्लेख करना भी अनिवार्य है। प्रत्याशी को अपने पेशे, व्यवसाय और शैक्षिक अर्हताओं की जानकारी देना भी जरूरी है। चुनावी मोर्चे पर पारदर्शिता लाने के लिहाज से सुप्रीम कोर्ट का यह फैसला क्रांतिकारी सुधार का सूत्रपात करने वाला रहा। जब तक ऐसे शपथपत्र दाखिल करना अनिवार्य नहीं था तब तक जनता को यह मालूम ही नहीं पड़ता था कि प्रत्याशी शिक्षित है या नहीं? गरीब है या अमीर? उसका कोई आपराधिक अतीत तो नहीं रहा? प्रत्याशियों के बारे में सभी जानकारी के अभाव में ही जनता को अपने मत के लिए पसंद तय करना पड़ता था। शपथपत्र अनिवार्य किए जाने के बाद से मतदाताओं के पास सूचनाओं का अंबार लग गया है, क्योंकि प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र में स्थानीय मीडिया शपथपत्र का विस्तृत ब्योरा प्रकाशित करता है। निश्चित रूप से इससे पारदर्शिता बढ़ी है, लेकिन सुप्रीम कोर्ट के समक्ष लंबित इन याचिकाओं को देखते हुए लगता है कि पारदर्शिता का स्तर अभी और बढ़ाने की जरूरत है।

जैसा कि लोक प्रहरी द्वारा जुटाए साक्ष्य दर्शाते हैं कि पांच वर्षों की अवधि में तमाम सांसदों और विधायकों की संपत्ति में 500 प्रतिशत से अधिक की उछाल आई है। यह निश्चित रूप से आयकर विभाग और भ्रष्टाचार की जांच करने वाली अन्य एजेंसियों के लिए जांच का विषय होना चाहिए। दोनों ही याचिकाओं में इस तथ्य पर जोर दिया गया है कि आय के स्रोत के संबंध में पर्याप्त सूचनाओं का अभाव है। वहीं दूसरी याचिका इस बात पर जोर देती है कि हलफनामे में दी गई जानकारी की सत्यता जांचने के लिए कोई तंत्र नहीं है। साथ ही ऐसा कोई कानून भी नहीं है जो प्रत्याशी को इसके लिए बाध्य करे कि वह अपने दावों की पुष्टि के समर्थन में कोई प्रमाण पेश करे। इन दोनों याचिकाओं के नतीजों पर नजर बनाए रखने की जरूरत है। उम्मीद है

कि हम यह गुथी सुलझाने में सक्षम होंगे कि कुछ नेताओं की चुनावी सफलता उनकी संपत्ति सृजन के इतनी समानुपाती कैसे होती है?

REGULATORY BODIES

1.नियामकीय संस्थानों के लिए हो स्वतंत्र आकलन की व्यवस्था (Regulatory bodies and their performance)

भारत में राजनीतिक नेतृत्व को उसके तमाम कदमों और निष्क्रियता के लिए जवाबदेह ठहराया जाता है लेकिन नियामकों को नहीं। यह टिप्पणी लेटर ऑफ अंडरटेकिंग (एलओयू) घोटाले के संदर्भ में है जिसने पंजाब नेशनल बैंक को चपेट में ले रखा है। वित्त मंत्री के वक्तव्य के कुछ दिन पहले योजना आयोग के अंतिम उपाध्यक्ष मोंटेक सिंह आहलूवालिया ने भी देश की प्रमुख नीति निर्माण संस्थाओं में निगरानी तंत्र की कमी का जिक्र किया था। आहलूवालिया ने अपनी बात अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के स्वतंत्र आकलन के बारे में कही थी। वह इंडियन काउंसिल फॉर रिसर्च ऑन इंटरनेशनल इकनॉमिक रिलेशंस में एक संगोष्ठी को संबोधित कर रहे थे।

आखिर नियामकों को जवाबदेह कैसे बनाया जाए?

क्या वित्त मंत्रालय द्वारा क्रियान्वित राजकोषीय नीतियों या एफआरबीएम ऐक्ट और मौद्रिक नीति समिति द्वारा आकलित मौद्रिक नीतियों के आकलन की निगरानी के लिए किसी निगरानी संस्था की जरूरत है? यह कहना पूरी तरह सही नहीं होगा कि भारतीय नियामक जवाबदेह नहीं हैं। फिलहाल अधिकांश नियामकों में अपीलीय संस्था है जो उनके आदेशों को देखती है और उसे यह अधिकार भी है कि चाहे तो आदेश को उलट सके। शेयर बाजार और बीमा बाजार की नियामकीय संस्थाओं के निर्णय के खिलाफ अपील की सुनवाई प्रतिभूति अपीलीय पंचाट में की जा सकती है। बिजली नियामक में एक नियामकीय संस्था है और दूरसंचार नियामक में भी। इसी तरह राष्ट्रीय कंपनी लॉ अपीलीय पंचाट में प्रतिस्पर्धा आयोग और इन्सॉल्वेंसी ऐंड बैंगक्रप्टसी बोर्ड के निर्णयों के खिलाफ अपील सुनी जाती है।

इस मामले में रिजर्व बैंक अपवाद है।

- उसके पास बैंकों के नियमन और मौद्रिक नीति तैयार करने जैसे दो अहम काम हैं। केंद्रीय बैंक में भी लोकपाल हैं लेकिन वे केवल बैंकों के ग्राहकों की शिकायत सुनते हैं
- आरबीआई के लिए कोई अपीलीय संस्था नहीं है और उसके किसी निर्णय या बैंक नियमन को किसी उच्च प्राधिकार में चुनौती नहीं दी जा सकती है। ऐसे में वित्त मंत्री का इस बात से क्या तात्पर्य है कि भारतीय व्यवस्था के नियामक जवाबदेह नहीं हैं? आरबीआई के अलावा सभी नियामकों पर अपीलीय संस्था है जहां उनके निर्णयों को चुनौती दी जा सकती है। आरबीआई को सभी नियामकों में सर्वोच्च स्थान हासिल है। पहले से सटीक चली आ रही व्यवस्था में अचानक कोई भी बदलाव करना उचित नहीं होगा।

केवल अपीलीय संस्था बनाने से जवाबदेही तय

फिर भी नियामकों के नियमन और उन्हें जवाबदेह बनाने का सवाल काफी समय से सरकार को परेशान किए हुए है। यह भी समझा जाना चाहिए कि केवल अपीलीय संस्था बनाने से जवाबदेही तय नहीं होती। अपील संस्थान कुछ क्षेत्रों में सफल साबित होते हैं क्योंकि नियामक इस बात से अवगत होते हैं कि उनके कदमों की समीक्षा हो सकती है और उन्हें पलटा भी जा सकता है। बहरहाल, नियामकीय जवाबदेही सुनिश्चित करने का एक तरीका यह है कि सभी नियामकों या नीति निर्णय संस्थानों के लिए स्वतंत्र निगरानी संस्था बनाई जाए। उन्हें जवाबदेह बनाने के बजाय बेहतर होगा स्वतंत्र निगरानी समिति का गठन करना। यह समिति सभी नियामकीय संस्थानों और अपीलीय संस्थानों के लिए बनाई जा सकती है। इन समितियों का गठन न करने के भी अनेक खतरे हैं। उनकी अनुपस्थिति में राजनीतिक प्रतिष्ठानों से नियामकों को जवाबदेह बनाने की मांग बढ़ती जाएगी। एक और खतरा मौजूदा अंकेक्षण संस्थाओं के विस्तार का हो सकता है। ये संस्थाएं संसद को इस बारे में जानकारी देती हैं कि सरकार और उसके अन्य अंग, उन्हें आवंटित संसाधनों को किस तरह व्यय कर रहे हैं। यह अपने आप में एक अहम काम है लेकिन समस्या तब खड़ी हो सकती है जब वही वित्तीय अंकेक्षक अपनी भूमिका का विस्तार करता हुआ नीतियों के औचित्य और उनके प्रभाव पर भी विचार करने लगे। नीतिगत क्रियान्वयन का आकलन करने का मानस या मानक वही नहीं हो सकता है जो वित्तीय व्यवहार और व्यय की किफायत के आकलन के।

स्वतंत्र निगरानी संस्थानों की व्यवस्था

ऐसे में यह आवश्यक है सरकार अपने राजकोषीय सुदृढीकरण के लक्ष्य पर किस तरह आगे बढ़ रही है, इसके आकलन तथा वृद्धि और स्थिरता के मोर्चे पर मौद्रिक नीति समिति की सफलता जानने के लिए स्वतंत्र निगरानी संस्थानों की व्यवस्था की जाए। अहम बात यह है कि ये निगरानी संस्थाएं वित्त मंत्रालय और आरबीआई को यह सलाह भी दे सकती हैं कि उन्हें अपने लक्ष्य हासिल करने के लिए क्या कदम उठाने चाहिए। इन निगरानी संस्थानों की आजादी अहम है। तभी ये सार्थक भूमिका निभा पाएंगे। वे अपनी रिपोर्ट वित्त मंत्रालय या आरबीआई को दे सकते हैं। भले ही उनकी फंडिंग सरकार से आए लेकिन उन्हें पूरी आजादी से काम करने का मौका मिलना चाहिए। योजना आयोग ने अपने समापन से कुछ वक्त पहले स्वतंत्र आकलन कार्यालय की स्थापना की थी। परंतु योजना आयोग के साथ उसका अस्तित्व भी समाप्त हो गया। अब वक्त आ गया है कि अन्य नियामकों तथा राजकोषीय और मौद्रिक नीति के लिए स्वतंत्र आकलन कार्यालय के विचार पर काम किया जाए। देश के करदाताओं अथवा नागरिकों का यह अधिकार है।

2. नियामकों की भूमिका में होनी चाहिए और स्पष्टता

Big question

सवाल यह है कि क्या भारतीय रिजर्व बैंक फंसे हुए कर्ज की वसूली के बारे में गठित एक अद्र्ध-न्यायिक निकाय के सामने शर्तें थोप सकता है? गुजरात उच्च न्यायालय ने भी हाल ही में यह पूछा कि क्या रिजर्व बैंक के पास अधिकरणों के नियमन की शक्तियां मौजूद हैं? रिजर्व बैंक का यह सोचना अधिक महत्वपूर्ण नहीं है कि वह एक अद्र्ध-न्यायिक निकाय को अपनी शर्तें मानने के लिए बाध्य कर सकता है। उससे अधिक महत्वपूर्ण या शायद डरावनी बात यह है कि हमारे सार्वजनिक संस्थानों के कामकाज में भूमिका की स्पष्टता किस तरह आसानी से आधिकारिक रूप से गलत हो सकती है

Ordinance & Power to RBI

सबसे बड़ी गलती राष्ट्रपति के अध्यादेश के जरिये रिजर्व बैंक को दी गई वह शक्ति है जिसमें उसे फंसे हुए कर्ज की वसूली के बारे में वाणिज्यिक बैंकों को निर्देश देने का अधिकार मिला है। यह प्रावधान केंद्रीय बैंक के डीएनए में गलत नीतिगत चयन के रूप में परिलक्षित होता है और यह भूमिका की स्पष्टता को भी धूमिल कर देता है। यह एकतरफा नीतिगत समाधान का बेहतरीन उदाहरण है।

should RBI issue binding direction?

- यह रिजर्व बैंक का दायित्व नहीं है कि वह वाणिज्यिक बैंकों के लिए बाध्यकारी निर्णय ले। लेकिन शक्तियों से सुसज्जित रिजर्व बैंक शायद यह मानने लगा कि उसे राष्ट्रीय कंपनी कानून न्यायाधिकरण (एनसीएलटी) को भी उसकी गतिविधियों के बारे में दिशानिर्देश देना चाहिए।
- हाल में बने दिवालिया कानून के तहत कामकाज के तरीके को लेकर बैंकों को निर्देश देने की शक्ति देने के पीछे यह धारणा है कि वाणिज्यिक बैंक को नए कानून के प्रावधानों को लेकर कोई फिक्र ही नहीं है।
- बैंकों की कार्यकारी भूमिका सुनिश्चित करने का रिजर्व बैंक को दायित्व सौंपने जैसी प्रवृत्ति अन्य क्षेत्रों में भी आ सकती है।
- बीमा क्षेत्र के नियामक को भी बीमा कंपनियां संचालित करने के लिए कहा जा सकता है। इसी तरह बाजार नियामक सेबी भी म्यूचुअल फंड संचालित कर सकता है।

Passing buck to RBI

- इससे भी बुरी बात यह है कि इसमें यह आधार बना दिया गया है कि निगरानी एजेंसियां कुछ साल बाद रिजर्व बैंक का दरवाजा खटखटा सकती हैं।
- एजेंसियां यह कह सकती हैं कि रिजर्व बैंक ने अपने दायित्व के निर्वहन के दौरान कुछ गलत फैसले लिए थे। उस समय बैंकों की समस्याएं रिजर्व बैंक की मुश्किल बन जाएंगी।
- यह संभावना काफी हद तक सही हो सकती है क्योंकि गैर-निष्पादित परिसंपत्तियों (एनपीए) की वसूली के मामले में प्रदर्शन खराब रहने और इनमें से कुछ परिसंपत्तियों को सस्ते में खरीदने वाला अगर लाभ कमाने लगता है तो केंद्रीय जांच ब्यूरो (सीबीआई) भविष्य में यह भी कह सकता है कि रिजर्व बैंक भी भ्रष्टाचार की चपेट में आ गया है।

रिजर्व बैंक का एनसीएलटी को एनपीए के संबंध में अपनाए जाने वाले रुख के बारे में अधिसूचना जारी करना पिछले कुछ वर्षों का एक अहम नीतिगत चयन है। एनसीएलटी का गठन अद्र्ध-न्यायिक फैसले ले पाने में सक्षम अधिकरण के तौर पर किया गया था लेकिन इसके पीछे यह सोच भी थी कि मौजूदा संगठनों के प्रदर्शन पर असर डालने वाली समस्याओं को दूर करने के लिए नई संस्थाओं की जरूरत है। न्याय प्रशासन के निष्प्रभावी होने से सरकारों ने संसद के जरिये ऐसे कानून पारित कराए हैं जिनमें नियामकों को सशक्त करके उन्हें एक तरह से न्यायिक भूमिका दे दी गई है। लेकिन इस तरह की भूमिकाएं निभाने के लिए जरूरी प्रशिक्षण देने और क्षमता विकसित करने पर कभी भी ध्यान नहीं दिया गया। ऐसे प्रयोगों से पैदा हुई निराशा में सरकारों ने कुछ और खराब प्रयोग किए जिसका नतीजा यह हुआ कि सरकार के अंगों की भूमिका ही धूमिल पड़ती जा रही है। इसके बहुतेरे उदाहरण हैं। पूंजी बाजार के नियामक सेबी को एक कार्यकारी संगठन होते हुए भी बेहिसाब शक्तियां दी गई हैं। उसे गंभीर अद्र्ध-न्यायिक फैसले भी लेने का अधिकार है जबकि उसके पास कोई न्यायिक प्रशिक्षण नहीं है। इसी तरह गंभीर दायित्वों के निर्वहन के लिए गठित अद्र्ध-न्यायिक अधिकरणों को भी संसाधनों की कमी का सामना करना पड़ता है। राष्ट्रीय कंपनी

कानून अपीलीय न्यायाधिकरण को कंपनी कानून के साथ ही प्रतिस्पर्द्धा कानून और दिवालिया कानून से जुड़े मामलों में भी अपीलीय अधिकरण की भूमिका दे दी गई है। लेकिन जमीनी हकीकत यह है कि इस अधिकरण में केवल दो सदस्य हैं जबकि एक सदस्य की जगह खाली है। इसी तरह बीमा नियामक के फैसलों के खिलाफ अपील सुनने के लिए गठित प्रतिभूति अपीलीय पंचाट में कभी भी सारे सदस्यों की नियुक्ति सरकार नहीं कर पाई है।

दूरसंचार क्षेत्र में कथित घोटाले के बाद कुछ 'रचनात्मक' नीति-निर्माताओं ने नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (सीएजी) को भी अहम कार्यकारी फैसला लेने की प्रक्रिया में शामिल करने का सुझाव दे दिया था। यह एक बानगी है कि अंतर-सांस्थानिक नियंत्रण एवं संतुलन को कितनी कम अहमियत दी जाती है। बैंकिंग क्षेत्र के नियामक का भी अपनी निगरानी वाले बैंकों को उठाए जाने वाले कदमों के बारे में बताना कुछ ऐसा ही है।

Conclusion

इस बात की काफी संभावना है कि निकट भविष्य में दिवालिया कानून के तहत प्रस्तावित इनसॉल्वेंसी पेशेवरों के लिए भी ऐसा कोई बोर्ड बन जाए जो उन्हें पेशेवर कामकाज के बारे में दिशानिर्देश जारी करे। एक नवजात व्यवस्था के शुरुआती दौर में इस तरह का कदम बहुत बड़ी गलती होगी। उससे दिवालिया प्रक्रिया अंजाम दे पाने में इन पेशेवरों की साख कुछ उसी तरह कमजोर होगी जैसा रिजर्व बैंक के निर्देश से बैंक प्रभावित होंगे। नए दिवालिया कानून में एक और बड़ी खामी यह है कि कोई भी कर्जदाता वसूली की प्रक्रिया शुरू कर सकता है। इससे न केवल कर्जदार कंपनी के निदेशक मंडल की शक्तियां निलंबित हो जाएंगी बल्कि कर्ज वसूली पर भी रोक लग जाएगी। साफ है कि आमूलचूल बदलाव वाली नीति से समस्याओं का समाधान निकलने के बजाय उनमें बढ़ोतरी ही होगी

3. RBI: सीमित स्वायत्तता (Autonomy)

पंजाब नेशनल बैंक में घोटाला सामने आने के बाद सबसे ज्यादा आलोचनाओं का शिकार हुए रिजर्व बैंक ने पहली बार चुप्पी तोड़ते हुए जो कहा है, वह काफी गंभीर और चौंकाने वाला है। आरबीआई गवर्नर उर्जित पटेल ने सार्वजनिक रूप से यह कहा है कि घोटालों को रोकने के लिए उनके पास जो अधिकार होने चाहिए, वे नहीं हैं।

- ✓ अगर सरकार ने रिजर्व बैंक के अधिकारों में कटौती न की होती तो शायद ऐसे घोटालों को अंजाम देने वालों के हौसले बुलंद नहीं हो पाते।
- ✓ केंद्रीय बैंक के गवर्नर का यह कहना निश्चित रूप से एक गंभीर मामला है। इससे पता चलता है कि बैंकिंग सुधार के नाम पर सरकार किस तरह केंद्रीय बैंक को पंगु बनाते हुए वाणिज्यिक बैंकों को अपनी मुट्ठी में कर रही है
- ✓ इससे सरकार और केंद्रीय बैंक के बीच गहरे और गंभीर मतभेद उजागर हुए हैं। जाहिर है, बैंकिंग क्षेत्र में सुधार और बैंकों पर नियंत्रण के लिए रिजर्व बैंक जो ठोस कदम उठाना चाहता है, वे शायद सरकार को अनुकूल प्रतीत नहीं होते।

उर्जित पटेल की बात से जो सबसे बड़ा मुद्दा उभर कर आया है, वह सीधे-सीधे रिजर्व बैंक की स्वायत्तता से जुड़ा है। सरकार ने बैंकिंग नियमन अधिनियम में संशोधन कर एक तरह से रिजर्व बैंक को निहत्था बना दिया है। बैंकिंग क्षेत्र के बारे में बड़े फैसले करने के अधिकार सरकार ने अपने पास ले लिए। ऐसे में अब केंद्रीय बैंक की हैसियत शायद इतनी भी नहीं रह गई है कि वह बड़े-बड़े घोटालों के बाद किसी की

जवाबदेही तय कर सके, किसी सरकारी बैंक के निदेशक मंडल को हटा सके या किसी बैंक का लाइसेंस रद्द कर सके। अरबों-खरबों के घोटाले सामने आने के बाद अगर केंद्रीय बैंक किसी की जवाबदेही भी तय नहीं कर सके तो फिर आखिर उसकी भूमिका क्या रह गई है, यह गंभीर सवाल है। रिजर्व बैंक अब क्या सिर्फ निजी क्षेत्र के बैंकों की निगरानी करने को रह गया है? आठ नवंबर, 2016 को नोटबंदी के बाद केंद्रीय बैंक को जिस तरह से दरकिनार करते हुए सरकार ने जो फैसले किए और ज्यादातर बड़े फैसलों के बारे में रिजर्व बैंक को जानकारी तक नहीं होने की बातें सामने आईं, उनसे तभी साफ हो गया था कि आने वाले वक्त में रिजर्व बैंक की भूमिका क्या रह जाएगी।

रिजर्व बैंक गवर्नर ने यह स्वीकार किया कि बैंकिंग नियमन अधिनियम में संशोधन कर केंद्रीय बैंक के अधिकार इतने घटा दिए गए हैं कि सरकारी बैंकों के कारोबारी प्रशासन में उसकी भूमिका नहीं के बराबर रह गई है। यह स्वीकारोक्ति इस बात को रेखांकित करती है कि सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों पर नियंत्रण को लेकर सरकार और केंद्रीय बैंक के बीच खाई कितनी चौड़ी हो गई है। अब बैंकों के अध्यक्ष, प्रबंध निदेशक और निदेशक मंडलों में नियुक्तियों का रिजर्व बैंक का अधिकार खत्म हो गया है। इन नियुक्तियों की कमान सरकार के हाथ में है। यह छिपी बात नहीं है कि बैंकों के शीर्ष पदों और निदेशक मंडलों में सरकार खासा दखल रखती है। ऐसे में सवाल उठता है कि बैंक का आला प्रबंधन रिजर्व बैंक के प्रति जवाबदेह होगा या फिर सरकार में बैठे लोगों के प्रति। बैंकिंग क्षेत्र में सुधार के लिए बनी नरसिम्हन कमेटी ने भी आरबीआइ की निगरानी में बैंकों के निदेशक मंडलों को राजनीतिक दखल से बचाने का सुझाव दिया था। अगस्त 2015 में भी पीजे नायक समिति ने सरकारी बैंकों के बोर्ड के कामकाज में सुधार की जरूरत बताई थी। पर सुधार को लेकर सरकार की ओर से शायद ही कोई पहल हुई हो। अगर ऐसे सुझाव अमल में लाए जाते तो पीएनबी जैसे घोटाले नहीं होते!

Programme/ Scheme/Bill

1. नेशनल मेडिकल कमीशन बिल

केन्द्रीय मंत्रिमंडल ने राष्ट्रीय चिकित्सा आयोग विधेयक (National Medical Commission Bill) को स्वीकृति प्रदान की। यह विधेयक संसद के चालू शीत सत्र में विचार के लिए रखा जायेगा। इस विधेयक के द्वारा भारतीय चिकित्सा परिषद् (MCI – Medical Council of India) को समाप्त कर दिया जायेगा और उसके स्थान पर राष्ट्रीय चिकित्सा आयोग (National Medical Commission) का गठन किया जायेगा।

उद्देश्य (Objectives)

1. इस विधेयक (NMC Bill) का उद्देश्य है देश में चिकित्सा शिक्षा (medical education) की ऐसी प्रणाली बनाई जाए जो विश्व स्तर की हो।
2. प्रस्तावित आयोग यह सुनिश्चित करेगा कि चिकित्सा शिक्षा के Undergraduate और Postgraduate दोनों स्तरों पर उच्च कोटि के चिकित्सक मुहैया कराए जाएँ।
3. National Medical Commission चिकित्सा professionals को इस बात के लिए प्रोत्साहित करेगा कि वे अपने क्षेत्र के नवीनतम medical शोधों को अपने काम में सम्मिलित करें और ऐसे शोध में अपना योगदान करें।
4. आयोग समय-समय पर चिकित्सा संस्थानों का मूल्यांकन करेगा।

- राष्ट्रीय चिकित्सा आयोग (National Medical Commission) भारत के लिए एक मेडिकल रजिस्टर के रख-रखाव की सुविधा प्रदान करेगा और मेडिकल सेवा के सभी पहलुओं में नैतिक मानदंड को लागू करवाएगा.

National Medical Commission Functions

- चिकित्सा शिक्षा के लिए आवश्यक नीतियों का निर्माण करना.
- चिकित्सा सेवा की आधारभूत संरचना के विकास के लिए आवश्यक कदम उठाने के विषय में रोडमैप तैयार करना.
- आयोग और मेडिकल बोर्ड्स के सुचारू संचालन के लिए विनियम तैयार करना.
- निजी मेडिकल संस्थान में अधिकतम 40% तक सीटों के लिए फीस के निर्धारण के नियम निर्धारित करना.
- अधिनियम के तहत भारत सरकार द्वारा समय-समय पर सौंपे गए अन्य अधिकारों और कर्तव्यों का अनुपालन करना.

2. भ्रूण लिंग परीक्षण: गर्भधारण पूर्व और प्रसव पूर्व निदान तकनीक अधिनियम, 1994

सरकार की लाख कोशिशों के बावजूद देश में लिंगानुपात लगातार घट रहा है। हमारे देश में प्रति एक हजार लड़कों पर सिर्फ 940 लड़कियां हैं। अगर भ्रूण हत्या और लड़कियों के खिलाफ बढ़ रहे अपराधों पर रोक नहीं लगाई गई तो

निकट भविष्य में लिंगानुपात में अंतर और भी भयानक रूप ले सकता है। भारत में भ्रूण हत्या और प्रसव पूर्व लिंग निर्धारण गैर कानूनी है और इसमें दंड का प्रावधान भी है। कड़े कानून के बावजूद लिंग परीक्षण के कई मामले सामने आते रहते हैं।

गर्भधारण पूर्व और प्रसव पूर्व निदान तकनीक अधिनियम, 1994

- गर्भधारण पूर्व और प्रसव पूर्व निदान तकनीक अधिनियम, 1994 के तहत गर्भधारण पूर्व या बाद लिंग चयन और जन्म से पहले कन्या भ्रूण हत्या के लिए लिंग परीक्षण करना गुनाह है।
- भ्रूण परीक्षण के लिए सहयोग देना व विज्ञापन करना कानूनी अपराध है। इसके तहत 3 से 5 साल तक की जेल व 10 हजार से 1 लाख रुपये तक का जुर्माना हो सकता है।
- गर्भवती स्त्री का जबर्दस्ती गर्भपात कराना अपराध है। ऐसा करने पर आजीवन कारावास की सजा हो सकती है।
- धारा 313 के तहत गर्भवती महिला की मर्जी के बिना गर्भपात करवाने वाले को आजीवन कारावास या जुर्माने से भी दण्डित किया जा सकता है।
- धारा 314 के तहत गर्भपात करने के मकसद से किये गए कार्यो से अगर महिला की मौत हो जाती है तो दस साल की कारावास या जुर्माना या दोनों हो सकते हैं।
- आईपीसी की धारा 315 के तहत शिशु को जीवित पैदा होने से रोकने या जन्म के बाद उसकी मृत्यु मकसद से किया गया कार्य अपराध होता है, ऐसा करने वाले को दस साल की सजा या जुर्माना दोनों हो सकता है।

वास्तव में कन्या भ्रूण हत्या के लिए कानून से ज्यादा समाज जिम्मेदार है। हमारे देश की अजीब विडम्बना है कि सरकार की लाख कोशिशों के बाद भी समाज में यह घटनाएं लगातार बढ़ती जा रही है। वैज्ञानिक एवं

प्रौद्योगिकी ने अल्ट्रासाउण्ड तकनीकी के द्वारा भ्रूण-परिक्षण की जानकारी देकर कन्या- भ्रूण हत्या को और व्यापक बना दिया है।

21वीं सदी में इस तरह की बातें कचोटती हैं। हम किस दुनिया में जी रहे हैं। एक ओर जहां बेटियां देश व परिवार का नाम रोशन कर रही हैं तो वहीं दूसरी ओर बेटियों को गर्भ में ही मार दिया जाता है। समाज की सोच है कि बुढ़ापे में बेटा काम आता है। क्या इससे इत्तेफाक रखना चाहिए। अगर ऐसा है तो जितने भी बृद्धाश्रम खुले हैं फिर तो उतने नहीं खुलने चाहिए थे।

कड़वा सच ये भी

- एक रिपोर्ट में सामने आया था कि हरियाणा में सेक्स रेशियो इतना कम हो गया था कि यहां लोग शादी करने के लिए लड़कियों को खरीदते थे और बच्चे पैदा करके उन्हें आगे बेच दिया करते थे। यूनाईटेड नेशंस आफिस आन ड्रग्स एंड क्राईम (यूएनओडीसी) की रिपोर्ट के मुताबिक जबरन शादी और बंधुआ मजदूरी के लिए हरियाणा में नॉर्थ ईस्ट की लड़कियों को लाने का प्रचलन हो गया था। हरियाणा में करनाल, मेवात, रेवाड़ी, कुरुक्षेत्र, जींद, यमुनानगर और हिसार जिले को उत्तर पूर्वी राज्यों से तस्करी द्वारा लड़कियों को लाने का प्रमुख स्थान माना जाता था।
- हरियाणा के लगभग सभी गांवों में 50 से ज्यादा महिलाएं तस्करी के माध्यम से लाकर यहां दुल्हन बनाई गईं। असल में प्रदेश में कन्या भ्रूण हत्या के चलते हालात ये पैदा हो गए हैं कि बड़ी संख्या में लड़कों की शादी की डेट एक्सपायर हो रही होती है और रिश्ता लेकर कोई आता नहीं है, ऐसे में 20 से लेकर 50 हजार रुपए खर्च करने पर उन्हें पत्नी मिल जाती है।

बेटियां नहीं है किसी से कम

एक तरफ जहां देश में लड़कियों की कोख में ही कब्र बना दी जाती है वहीं दूसरी तरफ लड़कियों ने मिसालें भी पेश की हैं कि वो किसी भी मामले में लड़कों से कम नहीं है। उदाहरण के तौर पर मानुषी छिल्लर, फोगाट सिस्टर्स, साक्षी मलिक, सानिया मिर्जा, साइना नेहवाल, कल्पना चावला, पीवी सिंधु, मेरिकॉम ये वो नाम हैं जिन्होंने न सिर्फ देश का बल्कि अपने परिवार का भी नाम रोशन किया है। वैसे अगर देखा जाए तो प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने भी अपनी कैबिनेट में महिलाओं को तवज्जो दी है। उनकी कैबिनेट में 7 महिला मंत्री हैं। यही नहीं कुछ महिलाओं के पास बेहद अहम मंत्रालय हैं। हाल ही में पीएम मोदी ने देश को पहली महिला रक्षा मंत्री निर्मला सीतारमण के रूप में दी।

महिलाओं पर अत्याचार, कन्या भ्रूण हत्या, आर्थिक लाभ के लिए महिलाओं के अभद्र प्रदर्शन का दुरुपयोग एक साधारण बात है। प्राचीन काल के भारत में महिलाओं का बहुत सम्मान किया जाता था। परंतु जैसे-जैसे समय बीतता गया महिलाओं की स्थिति में भीषण बदलाव आया। महिलाओं के प्रति लोगों की सोच बदलने लगी थी। क्या कभी इस बात का अंदाजा लगाया है कि महिलाओं को लेकर जिस तरह के हालात बन रहे हैं और यही सब चलता रहा तो आने वाले दिनों में क्या हाल होगा। जिस हिसाब से लिंगानुपात घट रहा है उस हिसाब से आने वाले दिनों में सिर्फ पुरुष ही पुरुष देखने को मिलेंगे।

3. व्यावसायिक अदालतों, व्याजवसायिक डिवीजन और उच्च न्यायालयों के व्यावसायिक डिवीजन (संशोधन) विधेयक 2018 को मंजूरी

केन्द्रीय मंत्रिमंडल ने संसद में पेश करने के लिए व्यावसायिक अदालतों, व्याजवसायिक डिवीजन और उच्च न्यायालयों की व्यावसायिक डिवीजन (संशोधन) विधेयक 2018 को मंजूरी दे दी है।

Commercial court and commercial division amendment विधेयक में निम्नलिखित लक्ष्यों को हासिल करने की व्यवस्था की गई है:

- विधेयक में व्यावसायिक विवाद के निर्दिष्ट मूल्य को वर्तमान एक करोड़ रुपये से कम करके तीन लाख रुपये कर दिया गया है : अतः तर्कसंगत मूल्य के व्यावसायिक विवादों का निपटारा व्यावसायिक अदालतों द्वारा किया जा सकता है। इससे कम मूल्य के व्यावसायिक विवादों के समाधान में लगने वाले समय (वर्तमान में 1445 दिन) को कम किया जा सकेगा और ईज़ ऑफ़ ड्रइंग बिजनेस में भारत की रैंकिंग को सुधारा जा सकेगा
- संशोधन में उन क्षेत्रों के लिए जिला न्यायाधीश के स्तर पर व्यावसायिक अदालतों की स्थापना की व्यवस्था की गई है, जिन पर सम्बद्ध उच्च न्यायालयों में मूलरूप से सामान्य दीवानी न्याय का अधिकार है जैसे चेन्नई, दिल्ली, कोलकाता, मुंबई और हिमाचल प्रदेश राज्या में। ऐसे क्षेत्रों में राज्य सरकारें अधिसूचना के जरिये जिला स्तर पर निर्णय दिये जाने वाले व्यावसायिक विवादों के आर्थिक मूल्य निर्दिष्ट कर सकती हैं, जो तीन लाख रुपये से कम और जिला अदालत के धन संबंधी मूल्य से अधिक नहीं हो। मूल रूप से सामान्य अधिकार क्षेत्र का इस्तेमाल करने के अलावा उच्च न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र में जिला न्यायाधीश के स्तर से कम व्यावसायिक अदालतों द्वारा निपटाए गए व्यावसायिक विवादों में अपील का एक मंच जिला न्यायाधीश स्तर पर व्यावसायिक अपीलीय अदालतों के रूप में प्रदान किया जाएगा।
- ऐसे मामलों में जहां तुरंत, अंतरिम राहत राहत पर विचार नहीं किया गया है, वहां संस्थापन पूर्व मध्यस्थता प्रक्रिया की शुरुआत करके सम्बद्ध पक्षों को विधि सेवा प्राधिकार कानून 1987 के अंतर्गत गठित प्राधिकारों के जरिये अदालतों के दायरे से बाहर व्यावसायिक विवादों का निपटारा करने का अवसर मिलेगा। इससे व्यावसायिक विवादों के निपटारे में निवेशकों का विश्वास बहाल करने में भी मदद मिलेगी।
- नये अनुच्छेद 21-ए को शामिल करने से केंद्र सरकार पीआईएम के लिए नियम और प्रक्रियाएं तैयार कर सकेगी। संशोधन को भावी प्रभाव देने के लिए ताकि न्यायिक कानून के प्रावधानों के अनुसार मौजूदा प्रावधान के अनुसार वर्तमान में व्यावसायिक विवादों के निर्णय देने वाले न्यायिक मंचों के अधिकार क्षेत्र में कोई बाधा न पड़े।

पृष्ठभूमि

तेजी से हो रहे आर्थिक विकास के साथ व्यावसायिक गतिविधियां भी तेजी से बढ़ी हैं और साथ ही घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यावसायिक विवादों में तेजी से वृद्धि हुई है। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफडीआई) और विदेशों से व्यावसायिक लेन-देन में वृद्धि से व्यावसायिक विवादों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है। व्यावसायिक विवादों से जुड़े मामलों के तेजी से निपटारे को ध्यान में रखते हुए और खासतौर से विदेशी निवेशकों के बीच भारतीय विधि प्रणाली की स्वतंत्र और उत्तपरदायी सकारात्मक छवि बनाने के लिए, व्यावसायिक अदालतों, व्यावसायिक डिविजन और उच्च न्यायालयों के व्यावसायिक अपीलीय डिविजन कानून 2015 अमल में लाया गया था और सभी न्यायिक क्षेत्रों में जिला स्तर पर व्यावसायिक अदालतें स्थापित की गईं। केवल उन क्षेत्रों को छोड़ दिया गया, जहां उच्च न्यायालयों के पास मूल रूप से सामान्य दीवानी निर्णय देने का अधिकार था। ये पांच उच्च न्यायालय हैं बम्बई, दिल्ली, कलकत्ता, मद्रास और हिमाचल प्रदेश उच्च न्यायालय क्रमशः मुंबई, दिल्ली, कोलकाता, चेन्नई शहरों और हिमाचल प्रदेश राज्या के क्षेत्रों के संबंध में मूल रूप से सामान्य दीवानी न्यायिक अधिकार क्षेत्र का इस्तेमाल कर रहे हैं। इन उच्च न्यायालयों के ऐसे क्षेत्रों में खंड-3 के उपखंड (1) के प्रावधान के अनुसार इन उच्च न्यायालयों में जिला स्तर पर कोई व्यावसायिक अदालतें नहीं हैं

और इसके स्थापन पर प्रत्येक उच्च न्यायालय में व्यावसायिक डिवीजन का गठन किया गया है। ऐसे व्यावसायिक विवादों के निर्दिष्ट मूल्य का निपटारा व्यावसायिक अदालतों अथवा उच्च न्यायालय की व्यावसायिक डिवीजन द्वारा किया जाएगा, जैसा भी हो जिनका मूल्य इस समय एक करोड़ रुपये है।

Ease of Doing Business विश्व बैंक का एक सूचकांक है, जिसका सम्बन्धज अन्यक बातों के अलावा किसी देश में विवाद निपटारे का माहौल बनाने से है, जो किसी व्यवसाय को स्थापित करने और उसको चलाने के लिए निवेशक तय करने के कार्य को सरल बनाता है। यह सूचकांक विश्व बैंक के समूह द्वारा तैयार किया गया है और 2002 से इसने दुनिया के लगभग सभी देशों का मूल्यांकन किया है। ईज़ ऑफ़ डूइंग बिजनेस की उच्च रैंकिंग का अर्थ है कि व्यवसाय को शुरू करने और उसे चलाने के लिए नियंत्रण माहौल अधिक अनुकूल है। 31 अक्टूबर, 2017 को विश्व बैंक ने अपनी नवीनतम वार्षिक ईज़ ऑफ़ डूइंग बिजनेस रिपोर्ट वर्ष 2018 के लिए जारी की, जिसमें भारत शीर्ष के उन 10 उन्नतकतिशील देशों में से एक के रूप में उभरकर सामने आया है और पहली बार भारत 30 स्थानों को पार करके 190 देशों में से ईज़ ऑफ़ डूइंग बिजनेस के मामले में 100वें रैंक के देश के रूप में पहुंचा है। इससे यह साबित होता है कि सभी मोर्चों पर ईज़ ऑफ़ डूइंग बिजनेस के लिए नियमित ढांचे में भारत सर्वश्रेष्ठ प्रक्रियाओं को तेजी से अपना रहा है

4. मेडिकल टर्मिनेशन ऑफ़ प्रेगनेंसी एक्ट' के प्रावधानों पर पुनर्विचार की मांग

LEGALLY SPEAKING

According to India's abortion laws only a qualified doctor can perform an abortion on a woman at an approved clinic or hospital. The Indian abortion laws fall under the Medical Termination of Pregnancy (MTP) Act, which was enacted by Parliament in 1971. The MTP Act clearly states that a pregnancy can be aborted only under certain conditions, such as:

<ul style="list-style-type: none"> ■ Woman's physical and/or mental health are endangered by the pregnancy ■ The woman is facing the birth of a potentially disabled or malformed child ■ The woman is a rape victim 	<ul style="list-style-type: none"> ■ The girl is minor and unmarried. Consent of a guardian is needed ■ The woman is a "lunatic" ■ Pregnancies that are a result of failure in sterilisation ■ The duration of pregnancy is under 20 weeks
---	---

Context

चंडीगढ़ की एक जिला अदालत ने 10 साल की एक बच्ची को गर्भपात की अनुमति देने से इनकार कर दिया था। इस फैसले के बाद यह चर्चा तेजी से होने लगी है कि क्या देश में गर्भपात संबंधी कानूनों पर पुनर्विचार करना जरूरी हो गया है

- अस्पताल ने गुड़िया का गर्भपात करने से इनकार कर दिया। दरअसल मेडिकल टर्मिनेशन ऑफ़ प्रेगनेंसी एक्ट के तहत 20 हफ्तों के गर्भ के बाद गर्भपात सिर्फ तभी किया जा सकता है जब मां या बच्चे की जान बचाने के लिए ऐसा करना जरूरी हो।
- चूंकि गुड़िया के मामले में 20 हफ्तों का यह समय बीत चुका था लिहाजा अस्पताल ने उसका गर्भपात करने से इनकार कर दिया।

- गर्भपात की अनुमति के लिए जब गुड़िया के माता-पिता न्यायालय पहुंचे तो न्यायालय ने भी 20 हफ्तों का समय बीत जाने के चलते उसे गर्भपात की अनुमति देने से इनकार दिया.

चंडीगढ़ की अदालत ने यह फैसला स्थानीय डॉक्टरों की सलाह के बाद लिया. स्थानीय डॉक्टरों का मानना है कि गुड़िया की उम्र बहुत कम है और उसकी गर्भावस्था इस हद तक बढ़ गई है कि अब गर्भपात करने से उसकी जान को खतरा हो सकता है. लेकिन देश भर के कई विशेषज्ञ चंडीगढ़ के डॉक्टरों से अलग राय भी रखते हैं.

- इन लोगों का मानना है कि गुड़िया को गर्भपात की अनुमति देना जोखिम भरा हो सकता है लेकिन उसे यह अनुमति नहीं देना और भी ज्यादा जोखिम भरा है.
- इन विशेषज्ञों के अनुसार 10 साल की बच्ची का शरीर इतना सक्षम नहीं होता कि वह एक बच्चे को जन्म दे सके लिहाजा गर्भपात ही गुड़िया के लिए बेहतर विकल्प है.
- 10 साल की इस बच्ची का मामला बेहद संवेदनशील है. इस अवस्था में उसके लिए गर्भपात भी खतरे से खाली नहीं है और बच्चे को जन्म देना तो और भी ज्यादा जोखिम भरा है.

Need to reform Medical Termination Pregnancy act

- भारत में गर्भपात से सम्बंधित कानूनों में बदलाव की बात पहले से भी उठती रही है. दरअसल हमारे देश में गर्भपात 'मेडिकल टर्मिनेशन ऑफ प्रेगनेंसी एक्ट, 1971' के अनुसार ही किया जा सकता है.
- कई जानकार मानते हैं कि 1971 के इस कानून में बदलावों की सख्त जरूरत है क्योंकि बीते 40-50 सालों में मेडिकल साइंस ने बेहद तेजी से तरक्की की है और तब के मुकाबले आज हम मानव शरीर को कहीं ज्यादा बेहतर तरीके से समझते हैं. लिहाजा इस कानून को भी आज की समझ के अनुसार बदलना जरूरी हो गया है.
- मेडिकल टर्मिनेशन ऑफ प्रेगनेंसी एक्ट, 1971' के कई प्रावधानों पर पुनर्विचार की मांग होती रही है जिनमें से इस अधिनियम की धारा तीन प्रमुख है. यही वह प्रावधान है जो 20 हफ्तों के बाद गर्भपात को कानूनन अपराध बनाता है और अपवादों को छोड़ इसे पूरी तरफ से प्रतिबंधित करता है. ऊपरी तौर पर देखने से तो इस प्रावधान में कोई कमी नज़र नहीं आती लेकिन यह प्रावधान गुड़िया जैसे कई बच्चों और महिलाओं के लिए अभिशाप बन जाता है.
- कई जानकार मानते हैं कि 'मेडिकल टर्मिनेशन ऑफ प्रेगनेंसी एक्ट' के प्रावधान उन महिलाओं या बच्चियों के लिए सबसे बड़ी मुसीबत बन जाते हैं जो बलात्कार के कारण गर्भवती हो जाती हैं. गुड़िया की तरह देश भर में हर साल हजारों बच्चियां यौन शोषण का शिकार होती हैं. बीबीसी की एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में औसतन हर 13 घंटे में एक 10 साल से कम उम्र का बच्चा बलात्कार का शिकार होता है. सिर्फ 2015 में ही हमारे देश में 10 हजार से ज्यादा बच्चे बलात्कार का शिकार हुआ थे. ऐसे में कई बार गुड़िया जैसे मामले भी सामने आते हैं जहां पीड़ित की उम्र और समझ इतनी कम होती है कि उसे अपने गर्भवती होने की बहुत लंबे समय तक जानकारी ही नहीं होती.
- गुड़िया को अगर बच्चे को जन्म देने के लिए मजबूर किया जाता है तो उस पर इसके शारीरिक ही नहीं बल्कि गंभीर मानसिक प्रभाव भी होंगे. पहला तो उसका शरीर ही बच्चे को जन्म देने के लिए तैयार नहीं है. उसकी हड्डियां भी इतनी मजबूत नहीं हैं कि बच्चे को जन्म दे सकें. बल्कि आने वाला समय उसके लिए बेहद खतरनाक हो सकता है क्योंकि 10 साल की बच्ची का शरीर पूरे नौ महीनों तक गर्भ को संभालने लायक भी विकसित नहीं होता है.'

5. अदालतों के डिजिटल होने की राह में अभी कई सारे झोल

Recent context

करीब दो महीने पहले उच्चतम न्यायालय ने अपना सारा कामकाज पेपरलेस करने का ऐलान किया था बाद में न्यायालय ने इस पर स्पष्टीकरण देते हुए कहा कि इस महत्वाकांक्षी योजना को पूरा करने की राह में कई 'तकनीकी एवं प्रकार्यात्मक मुद्दे' हैं। ग्रीष्मावकाश के बाद न्यायालय का कामकाज दोबारा शुरू होने पर पेपरलेस कामकाज से संबंधित मुद्दे अनगिनत रूप में सामने आए हैं।

- सर्वोच्च न्यायालय की 14 अदालतों में से केवल पांच के समक्ष ही दाखिल होने वाली नयी याचिकाओं को न्यायाधीश इंटरएक्टिव डिसप्ले उपकरण की मदद से डिजिटल रूप में देख सकते हैं।
- इसका मतलब है कि अब भी न्यायाधीशों को अपनी मेज के अगल-बगल रखी फाइलों के ढेर के बीच ही काम करना पड़ रहा है।
- नयी याचिकाओं का विवरण देखने वाला डिसप्ले उपकरण उनकी मेज पर रखा हुआ है लेकिन फिलहाल वह यूं ही पड़ा हुआ है। अभी तक कोई भी ई-याचिका इन अदालतों के समक्ष विचार के लिए नहीं आई है।

Need to digitise lower judiciary

उच्चतम न्यायालय को एक साथ सैकड़ों अपीलों का निपटारा करना होता है, लिहाजा उसके नीचे की अदालतों का भी डिजिटलीकरण होना जरूरी है।

हालांकि निचली अदालतों को निर्देश देने के लिए शीर्ष स्तर पर एक ई-समिति बनी हुई है लेकिन उच्च न्यायालयों और जिला अदालतों की इलेक्ट्रॉनिक प्रगति की हालत काफी खस्ता है। कुछ गिने-चुने उच्च न्यायालयों की ही वेबसाइट वकीलों के लिए मददगार साबित होती हैं। राष्ट्रीय महत्त्व के विभिन्न सामाजिक एवं आर्थिक मसलों पर उच्च न्यायालय अपने अधिकार-क्षेत्र में सुनवाई करते हैं और उन पर फैसला देते हैं। लेकिन इन फैसलों से झलकने वाली न्यायाधीशों की विद्वता और बुद्धिमत्ता आम लोगों तक नहीं पहुंच पाती है क्योंकि लोग उन फैसलों को वेबसाइट पर देख ही नहीं पाते हैं।

- निचली अदालतों के पास संसाधनों की कमी होने से ऐसा कर पाना खासा दुष्कर कार्य है।
- अब भी केस फाइल करने वाले काउंटर्स पर केस से जुड़े कागजों का पुलिंदा लेकर पहुंचते हैं। देश भर में कहीं भी निचली अदालतों के स्तर पर ई-फाइलिंग की उम्मीद करना अभी बेमानी ही कहा जाएगा।

एकीकृत केस प्रबंधन सूचना प्रणाली

हालांकि 10 मई को एकीकृत केस प्रबंधन सूचना प्रणाली (आईसीएमआईएस) के गठन का जब ऐलान किया गया था तो उसे एक क्रांतिकारी कदम बताया गया लेकिन असलियत तो यह है कि उच्चतम न्यायालय की नई वेबसाइट अब भी विकास की प्रक्रिया में है और ऑनलाइन इस्तेमाल करने वालों को खासी दिक्कत हो रही है। अच्छी-भली चल रही पुरानी वेबसाइट को नई वेबसाइट के चालू होने के पहले ही बंद कर दिया गया जिससे अनावश्यक भ्रम की स्थिति पैदा हो रही है।

Measures initiated to digitise in past

- पहला वाक्या नहीं है जब शीर्ष अदालत डिजिटल अवतार लेने की बात कर रही है।
- अक्टूबर 2006 में भी यह घोषणा की गई थी कि ई-फाइलिंग व्यवस्था शुरू की जा रही है।
- लेकिन एक दशक से भी अधिक समय बीत जाने के बाद भी अदालत पर कागजों का बोझ बढ़ता ही जा रहा है।

Need uniformity

गुजरात उच्च न्यायालय ने संवेदनशील मामलों में गवाहों के मुकर जाने संबंधी एक मामले में एक लंबा फैसला सुनाया था। इस मामले में एक पूर्व सांसद पर एक युवक की हत्या का आरोप था और बाद में उस केस के 195 में से 105 गवाह मुकर गए थे। न्यायालय के 120 पृष्ठों के इस फैसले के बारे में आम लोगों को कोई जानकारी नहीं है क्योंकि उस फैसले तक उनकी पहुंच ही नहीं है। न्यायाधीश ही अपने फैसले पर यह चिह्नित करते हैं कि उन्हें वेबसाइट पर अपलोड किया जाए या नहीं। वेबसाइट पर अपलोड होने से स्थानीय समाचारपत्रों के रिपोर्टों को भी उन फैसलों के बारे में पता चल जाता है। वर्षों से चली आ रही इस विडंबना पर अब तक किसी भी न्यायाधीश ने गौर नहीं किया है। इतना ही नहीं, अदालत अपनी ही वेबसाइट पर डाली गई सामग्री की प्रामाणिकता को लेकर भी उपभोक्ताओं को आगाह करता है।

- कई अन्य उच्च न्यायालयों की वेबसाइट भी आम लोगों की कोई मदद नहीं कर पाती हैं।
- इसकी वजह यह है कि ये वेबसाइट अपने ही डिजाइन से संचालित होती हैं।
- केवल स्थानीय वकीलों को ही उन वेबसाइट की सामग्री देख पाने की इजाजत होती है जबकि मुक्किलों को वेबसाइट पर जाने के लिए भुगतान करना होता है।
- इस तरह उच्च न्यायालयों के फैसले चाहे कितने भी अहम क्यों न रहे हों लेकिन बाकी दुनिया के लिए उनके दरवाजे असल में बंद ही रहते हैं।

सरकारी विभागों की वेबसाइट बनाने वाले राष्ट्रीय सूचना-विज्ञान केंद्र (एनआईसी) को भी ई-समिति यह बताने में नाकाम रही है कि सभी अदालतों के लिए एकसमान परिपाटी अपनाई जानी चाहिए। इसी तरह विभिन्न न्यायाधिकरणों की वेबसाइट भी एक ही परिपाटी पर बनाई जानी चाहिए। इनमें से कई न्यायाधिकरणों की वेबसाइट का तो महीनों से अद्यतन भी नहीं किया जाता है। आज के समय में समाज अदालतों की शक्तियों का बखूबी अहसास कर रहा है और शासन के अन्य अंगों से निराश होने पर उसे न्यायपालिका से ही आस लगी होती है। ऐसे में अदालतों का डिजिटल होना समय की मांग बन चुका

माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा कोष (Madhyamik and Uchchatar Shiksha Kosh (MUSK)) के रूप में माध्यमिक एवं उच्चतर शिक्षा के लिए सार्वजनिक खाते में गैर परिसमापनीय पूल के निर्माण को मंजूरी प्रदान कर दी है, जिसमें "माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा उपकर" की सभी राशियों को जमा किया जाएगा।

- MUSK से मिलने वाली समस्त निधियों का प्रयोग पूरे देश में माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा के छात्रों के लाभार्थ योजनाओं में इस्तेमाल किया जाएगा।
- उपरोक्त निधि के संबंध में केंद्रीय मंत्रिमंडल ने निम्नलिखित के लिए भी अपनी मंजूरी प्रदान कर दी है।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा उपरोक्त पूल का प्रशासन और रख-रखाव उपकरण से प्राप्त राशि को माध्यमिक एवं उच्चतर शिक्षा की चल रही योजनाओं में इस्तेमाल किया जाएगा। तथापि मानव संसाधन विकास मंत्रालय निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार आवश्यकता पर आधारित माध्यमिक एवं उच्चतर शिक्षा की किसी कार्यक्रम/योजना के लिए निधि का आवंटन कर सकता है।

- किसी वित्तीय वर्ष में स्कूली शिक्षा और साक्षरता विभाग तथा उच्चतर शिक्षा विभाग की चल रही योजनाओं पर व्यय प्रारंभ में सकल बजटीय सहायता (GBS) से सम्पन्न किया जाएगा और जीबीएस की राशि का इस्तेमाल हो जाने के उपरांत ही मस्क से खर्चों का वित्तपोषण किया जाएगा।
- MUSK का रख-रखाव भारत के लोक खाते के अंग के रूप में गैर-ब्याज आधारित प्रारक्षित निधि के रूप में किया जाएगा।
- इसका प्रमुख लाभ जहां एक ओर वित्तीय वर्ष के अंत में किसी राशि का परिसमापन न होना सुनिश्चित होगा, वहीं माध्यमिक एवं उच्चतर शिक्षा के लिए पर्याप्त संसाधनों के उपलब्धता के माध्यम से उनकी पहुंच बढ़ सकेगी।

विशेषताएं

- प्रस्तावित गैर समापनीय निधि में जमा राशि माध्यमिक शिक्षा एवं उच्चतर शिक्षा के विस्तार के लिए उपलब्ध कराई जाएगी।
- माध्यमिक शिक्षा के लिए : वर्तमान में मानव संसाधन मंत्रालय का विचार उपकरण से प्राप्त राशि को निम्नलिखित के लिए माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में इस्तेमाल करने का है।

निम्नलिखित सहित चल रही राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान योजना तथा अन्य अनुमोदित कार्यक्रम:

- राष्ट्रीय संसाधन-सह-मेरिट छात्रवृत्ति योजना और
- माध्यमिक शिक्षा के लिए लड़कियों के लिए राष्ट्रीय योजना
- उच्चतर शिक्षा के लिए: संक्षिप्त राशि निम्नानुसार खर्च की जाएगी:-
- ब्याज सब्सिडी और गारंटी निधियों में योगदान, कॉलेज विद्यालयों और विश्वविद्यालय छात्रों के लिए छात्रवृत्ति की चल रही योजनाएं
- राष्ट्रीय उच्चतर शिक्षा अभियान
- छात्रवृत्ति (संस्थाओं को प्रखंड अनुदान से) और शिक्षकों और प्रशिक्षण संबंधी राष्ट्रीय मिशन

तथापि मानव संसाधन विकास मंत्रालय आवश्यकता के आधार पर तथा निर्धारित प्रक्रिया के अनुसार माध्यमिक एवं उच्चतर शिक्षा के किसी कार्यक्रम/योजना हेतु निधियों का आवंटन कर सकता है।

माध्यमिक एवं उच्चतर शिक्षा के लिए उपकरण लगाने का प्रयोजन माध्यमिक एवं उच्चतर शिक्षा के लिए पर्याप्त संसाधन उपलब्ध कराना है। इस निधि को प्रारंभिक शिक्षा कोष (पीएसके) के अंतर्गत वर्तमान व्यवस्था के अनुसार संचालित किया जाएगा, जहां इस उपकरण की शेष राशि को स्कूल शिक्षा एवं साक्षरता विभाग की सर्व शिक्षा अभियान (एसएसए) और मिड डे मील (एमडीएम) के लिए इस्तेमाल किया जाता है।

पृष्ठभूमि

- 10वीं पंचवर्षीय योजना के दौरान वर्तमान बजटीय संसाधनों को बढ़ाने के लिए मूलभूत शिक्षा/प्रारंभिक शिक्षा के लिए अतिरिक्त संसाधन उपलब्ध कराने की दृष्टिगत 01.04.2004 की प्रभावी तिथि से सभी केंद्रीय करों पर दो प्रतिशत का शिक्षा शुल्क लगाया गया था। माध्यमिक शिक्षा तथा पहुंच को सार्वभौमिक बनाने में केंद्र सरकार के इस प्रयास को ऐसा ही बढ़ावा देने की आवश्यकता महसूस की गई। अतएव वित्त मंत्री ने वर्ष 2007 के अपने बजट भाषण में माध्यमिक एवं उच्चतर शिक्षा के लिए केंद्रीय करों पर एक प्रतिशत का एक और अतिरिक्त उपकर लगाने का प्रयास किया था।
- “माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा के लिए वित्त उपलब्ध कराने की सरकार की वचनबद्धता को पूरा करने के लिए (अधिनियम की धारा-136) वित्त अधिनियम 2007 के माध्यम से “माध्यमिक एवं उच्चतर शिक्षा उपकर” नामक सभी केंद्रीय करों पर एक प्रतिशत की दर से उपकर।
- जुलाई 2010 में मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा एक कैबिनेट नोट का प्रारूप परिचालित किया गया था, जिसमें माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा उपकर की शेष राशि की प्राप्ति के रूप में “माध्यमिक एवं उच्चतर शिक्षा कोष” (मस्क) नामक सार्वजनिक खाते में गैर परिसमापनीय निधि के सृजन का प्रस्ताव किया गया था। संबंधित मंत्रालयों अर्थात् तत्कालीन योजना आयोग, पूर्वोत्तर क्षेत्र मंत्रालय, आर्थिक मामले विभाग, वित्त मंत्रालय से इस संबंध में विचार मांगे गए थे। आर्थिक मामले विभाग ने इस आधार पर प्रस्ताव को सहमति प्रदान नहीं की कि माध्यमिक शिक्षा और उच्चतर शिक्षा की योजनाओं के लिए बजट आवंटन संग्रहित एक प्रतिशत उपकर की राशि से कहीं ज्यादा किया गया था। अतः संग्रहित उपकर की राशि को यह मान लिया गया कि संबंधित वित्तीय वर्षों में माध्यमिक और उच्चतर शिक्षा की योजनाओं के लिए निधि पूर्ण रूप से आवंटित कर दी गई है। इस प्रकार विगत अवधि के लिए एक-एक प्रतिशत उपकर के आधार पर कोई निधि आवंटन के लिए अब उपलब्ध नहीं है।
- बाद में मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने “माध्यमिक एवं उच्चतर शिक्षा कोष” (मस्क) के सृजन के विषय पर विचार करने के लिए 11 फरवरी, 2016 को आर्थिक मामले विभाग से अनुमोदन चाहा। आर्थिक कार्य विभाग 20 जून, 2016 को मस्क के सृजन के लिए कैबिनेट की मंजूरी प्राप्त करने हेतु मंत्रालय को एक कैबिनेट नोट का प्रस्ताव भेजने के लिए अपनी अनुमति प्रदान कर दी।

6. निजता (Privacy) के मूल अधिकार बनने का मतलब**In news:**

सुप्रीम कोर्ट के नौ जजों की संविधान पीठ ने सर्वसम्मति से Privacy यानी निजता के अधिकार को संविधान के अनुच्छेद-21 के तहत जीवन के अधिकार का हिस्सा मानकर एक नया इतिहास रच दिया है। निजता के अधिकार को मूल अधिकार करार देने के निर्णय के बाद उस फैसले का इंतजार है जो अनेक योजनाओं में आधार को अनिवार्य बनाए जाने के मामले में आना है। इस मामले की सुनवाई सुप्रीम कोर्ट की पांच सदस्यीय पीठ कर रही है।

Why 9 judge Bench

दरअसल जब इसी मामले की सुनवाई के दौरान निजता के अधिकार के मूल अधिकार होने-न होने का सवाल उठा तब मामला नौ सदस्यीय पीठ को सौंपा गया। इतनी बड़ी पीठ इसलिए बनानी पड़ी, क्योंकि पहले छह और आठ सदस्यीय पीठ निजता के अधिकार को मूल अधिकार न मानने का फैसला दे चुकी थीं।

Question in front of bench regarding right to privacy

इस नौ सदस्यीय पीठ के सामने बड़ा सवाल यही था कि क्या निजता का अधिकार संविधान के तहत मौलिक अधिकार है और क्या मौलिक अधिकार का उल्लंघन होने पर लोग उच्च न्यायालय या सर्वोच्च न्यायालय से न्याय की गुहार लगा सकते हैं?

Previous reference of right to privacy

- शीर्ष अदालत ने इसके पहले अनेक फैसलों के माध्यम से शिक्षा, स्वास्थ्य, जल्द न्याय, स्वस्थ पर्यावरण एवं भोजन को जीवन के अधिकार के तहत परिभाषित किया था।
- शीर्ष अदालत के इस फैसले में 1954 के खड़कसिंह और 1962 के एमपी शर्मा के पुराने फैसलों को पलटने का भी काम किया गया है।
- इन पुराने फैसलों में सरकार को राष्ट्रीय सुरक्षा और अपराध रोकने के लिए सरकार के विशेषाधिकारों को सही ठहराते हुए सुप्रीम कोर्ट ने निजता के अधिकार को मौलिक अधिकार नहीं माना था। हालांकि इसके बावजूद उसके अनेक फैसलों में प्राइवैसी को हमेशा ही संवैधानिक अधिकार माना गया।

चूंकि नवीनतम फैसले में निजता के अधिकार को मौलिक अधिकार मानने के बावजूद सरकार के विशेष अधिकारों को माना गया है इसलिए यह सवाल उठ सकता है कि आखिर पुराने फैसलों को किस हद तक गलत माना जा सकता है?

- ❖ चूंकि जनता के कल्याण के लिए सरकार को अपने स्तर पर कदम उठाने का अधिकार प्राप्त है इसलिए इस फैसले के बाद उसके ऐसे कदमों को इस कसौटी पर कसा जा सकता है कि कहीं वे मूल अधिकार बन गए निजता के अधिकार का हनन तो नहीं करते?
- ❖ यदि सरकार के ऐसे कदमों को चुनौती दी गई तो उसकी अनेक योजनाओं के क्रियान्वयन पर सवालिया निशान भी लग सकते हैं? शीर्ष अदालत के नवीनतम फैसले में राष्ट्रीय सुरक्षा, अपराध रोकने एवं कल्याणकारी योजनाओं के लिए सरकार की भूमिका को प्राइवैसी का उल्लंघन नहीं माना गया है, लेकिन इस फैसले के बाद सरकार अब किसी नागरिक को निजी जानकारी देने के लिए बेवजह बाध्य नहीं कर
- ❖ इस फैसले के बाद सरकार द्वारा जनता की निजी जानकारी का अन्य उद्देश्यों के लिए इस्तेमाल गैर-कानूनी माना जा सकता है। निजता पर सुप्रीम कोर्ट के फैसले के बाद सरकार को कई कानूनों में बदलाव करने पड़ सकते हैं।

Security of private data

शीर्ष अदालत में सुनवाई के दौरान लोगों के निजी डाटा की सुरक्षा का सवाल भी सामने आया। शीर्ष अदालत के इस फैसले को सही तरह लागू करने के लिए इंटरनेट कंपनियों को अपने सर्वर भारत में

स्थापित करने पड़ सकते हैं। यह सही सवाल उठाया जा रहा है कि आखिर डिजिटल युग में निजी कंपनियों द्वारा निजता के उल्लंघन पर रोक कैसे लगेगी?

स्मार्ट-फोन और सोशल मीडिया के दौर में लोगों की व्यक्तिगत जानकारी इंटरनेट कंपनियों के माध्यम से बाजार के हवाले हो जाती है। सरकार द्वारा डेटा सुरक्षा के मामले पर कानून बनाने के लिए पूर्व न्यायाधीश श्रीकृष्णा की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया है। डिजिटल इंडिया के विस्तार के बाद डेटा सुरक्षा पर सरकार द्वारा इस समिति का गठन देरी से उठाया गया कदम माना जा रहा है।

How FR will make difference:

किसी अधिकार के मूल अधिकार में आने का मतलब है कि उसमें छेड़छाड़ नहीं की जा सकती। 1973 में सुप्रीम कोर्ट की 13 जजों की बेंच ने सात जजों के बहुमत से केशवानंद भारती मामले में यह फैसला दिया था कि मौलिक अधिकार संविधान के मूल ढांचे के तहत आते हैं जिन्हें संसद भी नहीं बदल सकती। अगर कोई सरकार संसद के जरिये ऐसा करे भी तो शीर्ष अदालत उसे रद्द कर सकती है। जजों की नियुक्ति के लिए राष्ट्रीय आयोग बनाने के लिए संविधान संशोधन के जरिये संसद ने कानून बनाया था जिसे सुप्रीम कोर्ट ने अक्टूबर 2015 में रद्द कर दिया था। ऐसा तब हुआ था जब दोनों सदनों ने सर्वसम्मति से यह कानून बनाया था।

View of government

- सरकार द्वारा सुप्रीम कोर्ट में यह दलील दी गई थी कि कॉमन लॉ के तहत प्राइवेट का कानून है पर इसे मौलिक अधिकार नहीं माना जा सकता।
- सरकार के अनुसार भारत विकासशील देश है जहां कल्याणकारी योजनाओं को लागू करने के लिए सरकार को सक्रिय भूमिका निभानी पड़ती है।
- आधार और अन्य योजनाओं में लोगों की निजता को सुरक्षित रखने के लिए पर्याप्त कानूनों का सरकार ने हमेशा दावा तो किया है, लेकिन उसके दावे पर सवाल उठते रहे हैं।
- सरकार द्वारा आधार, वोटर कार्ड, पासपोर्ट, ड्राइविंग लाइसेंस, इनकम टैक्स, बैंक खाते खोलने एवं अन्य अनेक योजनाओं के लिए जनता की निजी जानकारी एकत्रित की जाती है। निजता के अधिकार के मूल अधिकार बन जाने के बाद सरकार पर इस जानकारी का सही तरह रख-रखाव करने की जिम्मेदारी बढ़ जाएगी। इस फैसले का असर समलैंगिकता संबंधी कानून पर भी पड़ सकता है।

सुप्रीम कोर्ट के फैसले को अमल में लाने के लिए राजनीति के अलावा अनेक व्यावहारिक चुनौतियां आ सकती हैं, जिन्हें राजनीतिक सहयोग से ही हल किया जा सकता है। अभी यह देखना शेष है कि क्या सरकार शीर्ष अदालत द्वारा दिए गए फैसलों के अनुरूप प्राइवेट पर प्रतिबंधों और अपवादों को परिभाषित करेगी, क्योंकि कोई भी मूल अधिकार असीमित नहीं हो सकता। आधार को केंद्र में रखकर डिजिटल इंडिया और गर्वनेस की अन्य योजनाओं का शीर्ष अदालत के फैसले का क्या प्रभाव पड़ेगा, यह आधार पर फैसला आने के बाद ही पता चलेगा, लेकिन सरकार के सामने यह चुनौती तो है ही कि निजी क्षेत्र और विशेष रूप से डिजिटल कंपनियों पर यह लगाम कैसे लगे कि वे लोगों की निजी जानकारी अन्य किसी को न दें? तकनीक के इस दौर में ऐसे सवालों का सही जवाब नहीं दिया जा सका तो प्राइवेट पर शीर्ष अदालत का फैसला कानून के जंजाल में एक और रिसर्च पेपर बनकर रह जाएगा।

निजता के अधिकार की महत्ता

संवैधानिक ज्ञान, इतिहास और अंतरराष्ट्रीय कानून में समाहित निजता (Privacy) का विषय एक बार फिर चर्चा में है। केएस पुट्टास्वामी (2017) के बेहद चर्चित मामले में इस पर आए फैसले ने हमारे गरिमामयी उदारवाद पर भी एक तरह से मुहर लगाई है। नौ वरिष्ठ न्यायाधीशों के एकमत निर्णय में निजता को मानवीय गरिमा का अभिन्न अंग माना है। साथ ही कहा गया है कि राज्य यानी सरकार द्वारा इसे किसी ऐसे संवैधानिक अधिकार के तौर पर वापस नहीं लिया जा सकता, क्योंकि यह मानव अधिकारों में सबसे ऊपर है।

- अदालत ने कहा कि 'निजता' गरिमा भाव को 'सुनिश्चित' करती है और यह उन मूल्यों का मूलाधार है जिनका लक्ष्य जीवन और स्वतंत्रता के अधिकार का संरक्षण करना है।
- बकौल न्यायमूर्ति चंद्रचूड़ अदालत ने इसे ऐसे समझाया है कि अपने अंतर्निहित मूल्यों के साथ निजता किसी व्यक्ति के जीवन को गरिमापूर्ण बनाती है और गरिमामयी जीवन के साथ ही स्वतंत्र जीवन का वास्तविक आनंद लिया जा सकता है।
- अनुच्छेद 14, 19 और 21 के तहत प्राप्त जीवन और स्वतंत्रता के मूल अधिकारों के आलोक में संवैधानिक पीठ ने कूपर (1970) और मेनका गांधी (1978) मामलों को मद्देनजर रखते हुए वर्षों पहले न्यायमूर्ति कृष्ण अय्यर के दार्शनिक ज्ञान को ही दोहराया कि किसी विशेष संविधान में सन्निहित मूल अधिकार जो व्यक्ति को 'मानव' बनाते हैं, उनसे जुड़ाव रखते हैं।

Correcting Mistake done in ADM Jabalpur case

बहरहाल एडीएम जबलपुर मामले में अपने पुराने फैसले को संवैधानिक खामी मानते हुए न्यायाधीशों ने कहा कि 'संविधान की व्याख्या को केवल उसके मूल स्वरूप के दायरे में बांधकर नहीं रखा जा सकता।'

- ✓ प्रख्यात अमेरिकी वकील एवं न्यायविद बेंजामिन कार्दोजो के मशहूर कथन को दोहराते हुए कहा कि संविधान केवल फौरी तौर पर लिए जाने वाले फैसलों के लिए नहीं होता है, बल्कि भविष्य के सिद्धांतों की रूपरेखा भी तैयार करता है।
- ✓ अस्थाई बहुमत के प्रभाव के विरुद्ध संविधानवाद के दर्शन की व्याख्या करते हुए अदालत ने निर्णय दिया कि संवैधानिक अधिकारों के आगे बहुमत की राय मायने नहीं रखती और इस प्रकार इन अधिकारों को लेकर उसने विधायिका और कार्यपालिका के दखल को रोक दिया।

तब क्या सवाल इस बात का है कि इस फैसले की इस दमदार दलील का संबंध कार्यपालिका और विधायिका की सार्थक भूमिका से जुड़ा है। खासतौर से कुछ विशेष अधिकारों पर राज्य की प्रतिक्रिया को लेकर। मसलन खाने, सेहत, संतानोत्पत्ति और डाटा से जुड़ी जानकारियों के मामले में पसंद के अधिकार को लेकर क्या निजता के अधिकार की परिधि तय की जाएगी। उम्मीद की जानी चाहिए कि देश के नागरिकों को उन अधिकारों के लिए अंतहीन न्यायिक लड़ाई नहीं लड़नी पड़ेगी जो अधिकार उन्हें विरासत में मिले हैं। इस मामले में सार्थक कदम उठाने की दिशा में सरकार को न्यायमूर्ति एपी शाह विशेषज्ञ समिति (2012) की रिपोर्ट पर गौर करना चाहिए जिसमें एक आदर्श निजता कानून का प्रारूप सुझाया गया है जिस पर एस्के कौल ने भी अपने फैसले में सहमति

जताई है। प्रस्तावित निजता कानून के लिए नौ बुनियादी सिद्धांतों की सिफारिश करने वाली इस रिपोर्ट की पुट्टास्वामी फैसले के आलोक में समीक्षा की जा सकती है और निजता अधिकारों को सुनिश्चित करने की

दिशा में व्यापक कानूनी ढांचा बनाने के लिए यह विश्वसनीय आधार मुहैया करा सकती है। स्वर्गीय रामा जोइस निजता की इस लड़ाई के गुमनाम नायक हैं। कर्नाटक उच्च न्यायालय के पूर्व न्यायाधीश और राज्य सभा सदस्य रहे जोइस आधार के संदर्भ में लगातार निजता को लेकर अपनी आवाज बुलंद करते रहे। योजना मंत्री के रूप में मेरा भी इस मुद्दे से सामना हुआ। इसका नतीजा हुआ कि योजना आयोग ने आदर्श निजता कानून का प्रारूप तय करने के लिए न्यायमूर्ति एपी शाह के नेतृत्व में एक आयोग का गठन किया। निजता की बहस में यह पूछा जाना जरूरी है कि क्या आधार की राह में कानूनी चुनौतियों को निजता की लड़ाई में तब्दील करने की जरूरत थी या फिर आधार पर बहस की वह भी तब जब कूपर (1970), मेनका गांधी (1978) और उसके बाद आए सुप्रीम कोर्ट के सिलसिलेवार फैसलों में निजता का अधिकार गरिमा के संदर्भ में मूल अधिकार के तौर पर हमारे संवैधानिक दर्शन में अक्षुण्ण बना रहा।

निजता मामले में आए फैसले का एक बेहद महत्वपूर्ण पहलू भी है जिस पर बहुत ज्यादा गौर नहीं किया गया है। वह यह कि इसके जरिये न्यायिक शक्तियों को लेकर साफ संदेश दिया गया है कि अदालत के न्यायिक समीक्षा क्षेत्राधिकार में नए संवैधानिक अधिकार भी जोड़े जा सकते हैं। कुछ संवैधानिक विद्वानों ने जल्दबाजी में इस फैसले को लेकर अपनी व्याख्या में सुप्रीम कोर्ट के 'समांतर शासन' की बात कही है। बहरहाल ऐसी अवधारणाओं को खारिज करते हुए अदालत ने कहा है कि यह कवायद संविधानप्रदत्त मौजूदा अधिकारों की व्याख्या से जुड़ी होने के साथ ही 'यह समझने की भी है कि इन अधिकारों के मूल में आखिर किन तत्वों का समावेश है।' इस प्रकार उसने ऐसे संवैधानिक विमर्श के शब्दकोश को स्वीकार किया है कि जो स्व-नियंत्रण के माध्यम से अतिरंजिता को सही दिशा देने के साथ ही स्वयं के लिए संवैधानिक सिद्धांतों के स्वतंत्र रक्षक के रूप में अपनी भूमिका को लेकर सामान्य स्वीकार्यता भी अर्जित करता है।

'अपने दायरे में' रहते हुए न्यायाधीशों ने अनुभव और कानूनी सिद्धांतों के जरिये अपना कौशल दिखाते हुए न्यायिक सीमा की परिधि का अतिक्रमण करने से परहेज कर 'विभिन्न शाखाओं वाले एकसमान तंत्र' में शक्तियों के पृथक्कीकरण की संवैधानिक शक्तियों वाली व्यवस्था को भी सुनिश्चित किया। यह ऐतिहासिक फैसला कई बातों को पुष्ट करता है। इनमें अकेले रहने के अधिकार को मानवीय गरिमा से जोड़ते हुए, सभी के लिए समानता और स्वतंत्रता को शामिल किया गया है कि ये सभी मानवीय गरिमा के विशिष्ट तत्व और राष्ट्र की उदारवादी मानसिकता के प्रमाण हैं। यह हम पर निर्भर करता है कि हम इस फैसले को कैसे फलीभूत करते हैं ताकि अपने दौर की भावना में विश्वास रख सकें जिसमें मानवाधिकारों और उन्हें संरक्षित रखने में राज्य की भूमिका को सार्वभौमिक स्वीकृति मिल चुकी है

8. पुलिस सुधार की गाड़ी

- देश में पुलिस सुधार की गाड़ी एक बार फिर चल पड़ी है। बुधवार को प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की अध्यक्षता में हुई कैबिनेट की बैठक में अगले तीन साल में 25,060 करोड़ रुपये की लागत से पुलिस सुधारों को आगे बढ़ाने का फैसला किया गया। इनमें 80 फीसद रकम केंद्र सरकार मुहैया कराएगी। वित्त आयोग की रिपोर्ट के आधार पर केंद्रीय राजस्व में से राज्यों का हिस्सा 32 फीसद से 42 फीसद करने के बाद पुलिस सुधारों के लिए केंद्रीय सहायता बंद हो गई थी। इसके बाद राज्यों ने भी इसे बीच में ही छोड़ दिया था।
- योजना में 80 फीसद यानी 18,636 करोड़ रुपये केंद्र सरकार देगी और 20 फीसद यानी 6,424 करोड़ रुपये का अंशदान राज्य सरकारों को करना होगा।

- इस योजना के तहत आंतरिक सुरक्षा के साथ-साथ देश में कानून-व्यवस्था को मजबूत करने में मदद मिलेगी।
- इस योजना में जेलों का आधुनिकीकरण भी शामिल है। सीसीटीएनएस योजना में सभी जेलों को ई-प्रिजन में तब्दील किया जाएगा। इसके तहत आरोपियों को वीडियो कान्फ्रेंसिंग से कोर्ट की कार्यवाही को अंजाम दिया जाएगा।
- पुलिस आधुनिकीकरण की इस योजना में जम्मू-कश्मीर, पूवरेत्तर के राज्यों और नक्सल प्रभावित राज्यों के लिए विशेष प्रावधान किए गए हैं। इन इलाकों में लगभग 11300 करोड़ रुपये खर्च किए जाएंगे, जिनमें केंद्र सरकार 10,132 करोड़ रुपये का योगदान करेगी।

Social Justice

1. आहार में विविधता की जरूरत : कुपोषण की समस्या कम करने के लिए

Recent context

प्रधानमंत्री ने देश में कुपोषण की समस्या कम करने के लिए सरकार द्वारा उठाए जा रहे कदमों की गत 25 नवंबर को समीक्षा की। इसमें अधिकारियों ने पोषण के बारे में जागरूकता पैदा करने में मददगार विभिन्न सामाजिक योजनाओं पर जोर दिया। लेकिन एक बड़ा कार्यक्रम है जो इस दिशा में अहम भूमिका निभा सकता है। वह है राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा कानून (एनएफएसए)।

National food Security mission

NFCA की शुरुआत 2013 में हुई थी और तबसे इसमें कई उल्लेखनीय बदलाव किए गए हैं।

- इनमें खरीद प्रक्रियाओं के डिजिटलीकरण से लेकर वितरण और खरीद व्यवस्थाओं की खामियों को दूर करना शामिल है।
- साथ ही लाभार्थियों के खाते में सीधे नकदी हस्तांतरण की योजना को लागू करने के लिए प्रायोगिक योजनाएं भी शुरू की गई हैं।
- हाल में सरकार ने एनएफएसए के लाभार्थियों के लिए पहचान दस्तावेज के तौर पर आधार कार्ड के इस्तेमाल को अनिवार्य बना दिया है। बेहतर पारदर्शिता और दक्षता के साथ वितरण व्यवस्था को मजबूत करने के लिए ये उपाय जरूरी हैं।

What other reforms which can be introduced?

संचालन संबंधी समस्याओं को दूर करने के लिए उठाए जा रहे कदमों के अलावा एनएफएसए के कई अन्य अहम पहलू हैं जिन पर सरकारों को ध्यान देने की जरूरत है। इस कानून का मुख्य लक्ष्य भी इनमें से एक है। यह लक्ष्य है भूख से निजात और कुपोषण का उन्मूलन। इस कार्यक्रम का खाका इस तरह खींचा गया है कि यह केवल गरीबों की खाद्य जरूरतों को पूरा करता है और इसका ज्यादा जोर मुख्य आहार चावल और गेहूं पर है। अब भी यह कानून पोषण संबंधी पहलू का समाधान नहीं करता है। अलबत्ता लोगों में पोषक तत्वों की कमी को दूर करने के लिए हाल में प्रयोग के तौर पर कुछ योजनाएं शुरू की गई हैं। इनके तहत चुनिंदा स्थानों पर पोषक तत्वों से भरपूर गेहूं, दलहनों और मोटे अनाज का वितरण किया जा रहा है।

Middle and high income group & food diversity

मध्य वर्ग और उच्च आय वाले समूहों में आहार में विविधता की मांग बढ़ रही है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण (एनएसएस) के आंकड़ों के मुताबिक आय बढ़ने के साथ लोगों के बीच कैलरी वाली खुराक और खाने की थाली में विविधता बढ़ रही है। लेकिन कैलरी का मुख्य स्रोत अब भी अनाज ही है। गरीबों के लिए पोषण की दृष्टि से खुराक में विविधता अहम है, भले ही वे पहुंच और सामर्थ्य जैसी बाधाओं के कारण ज्यादा मांग नहीं करते हैं। एनएफएसए से गरीबों को पोषण की कमी को दूर करने का मौका मिलता है।

How NFSA can be made inclusive

- एक त्रिआयामी दृष्टिकोण से एनएफएसए को पोषण समावेशी बनाया जा सकता है। इसमें पहला है सार्वजनिक खाद्य वितरण (पीडीएस) में विविधीकरण। देश में कुपोषण के तिहरे बोझ को दूर करने का एक तरीका पीडीएस के जरिये दलहनों और सूक्ष्म पोषक तत्वों से भरपूर सब्जियों तथा फलों को गरीबों तक पहुंचाना है।
- दूसरा तरीका है खरीद व्यवस्था का विकेंद्रीकरण। इससे राज्यों को अपनी स्थानीय जरूरतों के हिसाब से आहार तय करने की सुविधा मिलेगी। साथ ही स्थानीय किसानों को भी बल मिलेगा और वे स्थानीय जरूरतों और मांग के हिसाब से उपज का उत्पादन कर सकेंगे। राज्यों को इस विकेंद्रीकृत खरीद नीति (Decentralised procurement like Chhattisgarh) को अपनाने की जरूरत है। इससे मोटे अनाज और दलहनों जैसे गैर-मुख्य खाद्यान्नों की खरीद की नीति बनाने में मदद मिलेगी जिनकी स्थानीय स्तर पर मांग रहती है।
- तीसरा पहलू यह है कि नकदी हस्तांतरण के जरिये उत्पादन और खुराक में विविधता को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। मौजूदा व्यवस्था के तहत पीडीएस के जरिये केवल अनाज का वितरण किया जाता है। प्रत्यक्ष लाभ हस्तांतरण (डीबीटी) विशेषकर नकदी हस्तांतरण से उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति बढ़ सकती है। इससे उपभोक्ताओं को अपनी जरूरतों के हिसाब से अधिकतम पोषक तत्वों को लेने के लिए अपनी खुराक में विविधता लाने की सुविधा मिलेगी। इसी तरह किसानों को सब्सिडी के बजाय नकदी देने से उनकी जोखिम लेने की प्रवृत्ति बढ़ सकती है और वे बाजार के संकेतों के हिसाब से अपनी फसल बदल सकते हैं। नकदी हस्तांतरण कार्यक्रम को प्रायोगिक तौर पर चंडीगढ़, पुदुच्चेरी और दादरा एवं नगर हवेली में अपनाया गया है जिनकी इस कार्यक्रम में कुल 3 फीसदी हिस्सेदारी है। इसका दायरा बढ़ाने का प्रस्ताव है।

Challenges likely

इन तरीकों की भी अपनी चुनौतियां हैं। राज्यों को साथ लाने में मुश्किलें हैं और खरीद में ज्यादा उत्पादों को शामिल करने से लागत बढ़ेगी। खरीद के लिए संस्थागत व्यवस्थाएं और दलहनों तथा जल्दी खराब होने वाली उपज को स्टोर करने के लिए पर्याप्त बुनियादी ढांचा नहीं है। बाजार के जोखिम और अनिश्चितताएं भी हैं। उदाहरण के लिए अगर पोषक तत्वों से भरपूर किसी उपज का उत्पादन मांग की तुलना में कम रहता है तो भारी मांग से खुले बाजार में कीमतें बढ़ जाएंगी। नतीजतन उस उपज की खपत घटेगी जिससे पोषण की स्थिति पर नकारात्मक असर पड़ सकता है।

How these challenges can be tackled

- इनमें से कुछ चुनौतियों से निपटने के लिए नीति के स्तर पर 2017 के बजट में दलहनों के बफर स्टॉकिंग का प्रावधान किया गया है।
- दलहनों को खाद्यान्नों के स्तर पर लाने के लिए नीतिगत हस्तक्षेप शुरू कर दिए गए हैं। सरकार जब दलहनों की खरीद शुरू करती है तो इसे आईसीडीएस, एमडीएम और पीडीएस जैसी कल्याणकारी योजनाओं से जोड़ना शायद अच्छा विचार हो सकता है।
- इससे किसानों को दलहनों का ज्यादा उत्पादन करने पर किसानों को प्रोत्साहन देने और उन्हें उपज के लिए बाजार उपलब्ध कराने का दोहरा उद्देश्य पूरा करने में मदद मिल सकती है। इससे एनएफएसए के दायरे में आने वाली आबादी के पोषक स्तर को मजबूत करने में भी मदद मिलेगी। देश में पांच साल से कम उम्र के बच्चे बड़े पैमाने पर कुपोषण का शिकार हैं। सूक्ष्म पोषक तत्वों से भरपूर भोजन की बेहतर पहुंच से पोषण के दोहरे बोझ यानी कुपोषण और मोटापे के मामलों में कमी आएगी। एनएफएसए के दायरे में आईसीडीएस ऐसा कार्यक्रम है जो 6 साल से कम उम्र के बच्चों की पोषक जरूरतों को पूरा करने में मददगार साबित हो सकता है, बशर्ते इसमें खाद्यान्नों के अलावा दूसरे पोषक खाद्य पदार्थ शामिल किए जाएं। भले ही इस कानून का अब तक का समग्र अनुभव सीमित है लेकिन यह जरूरी है कि एक संतुलित खाद्य व्यवस्था बनाने की संभावनाओं का तलाशने की प्रक्रिया शुरू की जाए।

2. न्यायालयों का बोझ कम करने और लाखों लोगों को त्वरित न्याय देने में नजीर बन सकती हैं न्याय पंचायतें**Delay in getting justice**

न्याय मिलने में देरी न्याय न मिलने के समान है। नागरिक अधिकारों और नैतिकता का तकाजा है कि आरोपितों को भी शीघ्र न्याय मिले। अपने देश में लाखों लोग वर्षों से न्याय पाने के लिए कतार में लगे हैं, लेकिन कतार खत्म होने का नाम नहीं ले रही है। लंबित मुकदमों के मामले में नेशनल जूडिशियरी डेटा ग्रिड के ताजा आंकड़े चिंतित करने वाले हैं। जहां करोड़ों मामले लंबित हैं वही सुप्रीम कोर्ट में न्यायाधीशों की स्वीकृत पदों की संख्या 31 में से 6 पद, उच्च न्यायालयों के लिए स्वीकृत 1048 पदों में से 389 पद और अधीनस्थ न्यायालयों के लिए स्वीकृत 22,677 पदों में से 5,984 पद रिक्त पड़े हैं। स्पष्ट है कि जजों को काम के बोझ के तले काम करना पड़ रहा है। हालांकि स्पीडी ट्रायल, वीडियो कांफ्रेंसिंग के जरिये सुनवाई, ट्रिब्यूनल्स एवं विशेष न्यायालयों के गठन, जजों द्वारा अतिरिक्त कार्य संपादन, लोक अदालतें, मोबाइल कोर्ट जैसे कई कदम उठाए गए हैं ताकि लंबित मामलों का शीघ्र निपटारा किया जा सके, लेकिन लंबित मामले घटने का नाम नहीं ले रहे हैं। आखिर इस समस्या का निदान क्या है?

सबसे पहले तो रिक्त पड़े जजों के पद भरे जाने चाहिए। फिर आबादी के हिसाब से जजों के स्वीकृत पदों की बढ़ोतरी की जाए, न्यायिक कार्य अवधि एवं दिनों में वृद्धि की जाए और किसी अतिरिक्त एवं वैकल्पिक न्यायप्रणाली पर भी विचार किया जाए। अतिरिक्त न्यायप्रणाली की चर्चा से पहले बेहतर होगा कि उन कारणों पर भी एक नजर डाल ली जाए जिसके चलते लंबित मामलों की संख्या बढ़ती जा रही है।

लंबित मामले कम करने के लिए निचली अदालतों में मामूली विवादों में सुलह हो सकती है

अगर निचली अदालतों में लंबित मामलों को देखें तो लगेगा कि तमाम मामले ऐसे हैं जिन्हें स्थानीय स्तर पर सुलह या मामूली आर्थिक दंड द्वारा हल किया जा सकता है, लेकिन उचित प्रावधान के अभाव में मामूली मामले थाने होते हुए न्यायालय पहुंच जाते हैं। एक उदाहरण देखें: एक आदमी की बकरी दूसरे की थोड़ी सी फसल चर गई। दोनों के बीच वाद-विवाद हाथापाई में बदला। कोई थाने चला गया। मुकदमा दर्ज हो गया और इस तरह एक और केस बढ़ गया। एक अन्य उदाहरण: एक व्यक्ति ने दूसरे से दस हजार रुपये उधार लिए। समय पर नहीं लौटा सका तो दोनों में मामूली झगड़ा हुआ और फिर विवाद थाना होते हुए न्यायालय पहुंच गया। इस प्रकार एक और केस बढ़ गया।

वैकल्पिक एवं अतिरिक्त न्याय प्रणाली (Alternative dispute resolution)

यह सिलसिला कायम रहता है। यदि हम वैकल्पिक एवं अतिरिक्त न्याय प्रणाली की बात करते हैं तो नजर बिहार पर जाती है। बिहार में प्रत्येक ग्राम पंचायत के स्तर पर एक न्याय पंचायत का भी गठन किया गया है। न्याय पंचायत का अध्यक्ष सरपंच होता है जिसका चुनाव उस पंचायत के मतदाता करते हैं। इसके अतिरिक्त हर पांच सौ की आबादी पर एक-एक पंच का भी चुनाव किया जाता है। बिहार ग्राम पंचायत अधिनियम के तहत इन न्याय पंचायतों को आइपीसी की 40 धाराओं और दस हजार रुपये तक के सिविल मामलों को सुलझाने का अधिकार दिया गया है। अधिनियम में प्रावधान है कि न्याय पंचायत की अधिकारिता वाले मामले को लेकर यदि कोई वादी थाने जाए तो थाना उस मामले को संज्ञान में लेकर समुचित कार्रवाई हेतु संबंधित न्याय पंचायत को वापस कर देगा। कोई पक्षकार अपना पक्ष रखने के लिए वकील की सेवा प्राप्त नहीं कर सकता। उसे अपना पक्ष खुद अपनी बोलचाल की भाषा में रखना होता है। इसका उद्देश्य न्याय पंचायतों को नाहक जिरह का अखाड़ा बनने से रोकना है। न्यायपीठ को मामले की कानूनी स्थिति की जानकारी उपलब्ध हो, इसके लिए सरकारी खर्च पर न्याय पंचायत को एक-एक विधि सातक न्याय मित्र की सेवा उपलब्ध है। पंचायतों को नोटिस की तामीली के लिए चौकीदार सेवा भी हासिल है। ये चौकीदार राज्य सरकार के चतुर्थश्रेणी कर्मचारी होते हैं।

ग्राम पंचायतों के स्तर पर न्याय पंचायतों का गठन किया जाना चाहिए(Gram Panchayat)

न्याय पंचायतें खंडपीठ और पूर्णपीठ के माध्यम से कार्य करती और फैसला सुनाती हैं। अगर कोई पक्ष न्याय पंचायत के फैसले से असंतुष्ट हो तो सात दिनों के अंदर वह पूर्णपीठ के समक्ष अपील दायर कर सकता है। पूर्णपीठ के फैसले के खिलाफ सिविल मामलों में सब-जज के कोर्ट में और आपराधिक मामलों में डिस्ट्रिक्ट एंड सेशन जज के कोर्ट में 30 दिनों के अंदर अपील दायर हो सकती है। ग्राम कचहरी कही जाने वाली इन न्याय पंचायतों में भी सुधार की जरूरत है। 73 वें संविधान संशोधन के पहले ग्राम पंचायतों को संवैधानिक दर्जा हासिल नहीं था। इसमें एक अनुसूची भी जोड़ी गई। इस अनुसूची के द्वारा ग्राम पंचायतों के अधिकारिता के विषय निर्धारित कर दिए गए हैं। समय आ गया है कि संविधान में एक और संशोधन के जरिए पूरे देश में ग्राम पंचायतों के स्तर पर न्याय पंचायतों का गठन किया जाए। किसी प्रकार की अस्पष्टता न रहे और देश में समरूपता बनी रहे, इसलिए इनके अधिकार एवं कर्तव्य भी सुस्पष्ट कर दिए जाएं।

न्याय पंचायतें असंज्ञेय मामलों को बेहतर ढंग से सुलझा सकती है

जैसा कि नाम से ही ध्वनित होता है, ये न्याय पंचायतें दंडात्मक दृष्टिकोण से फैसला करने के बजाय पक्षकारों

के मध्य सुलह-समझौते पर ज्यादा ध्यान देंगी। न्याय पंचायतों के माध्यम से कई मामले और खासकर असंज्ञेय मामले बेहतर ढंग से सुलझाए जा सकते हैं। इनके गठन से न केवल न्यायालयों का बोझ कम होगा बल्कि लाखों लोगों को त्वरित न्याय भी मिल सकेगा। इस दिशा में केंद्र सरकार को पहल करनी चाहिए।

Q. व्यापार करने की सुविधा रैंकिंग में सुधार करने के लिए वाणिज्यिक मध्यस्थता में परिवर्तन समय की जरूरत है। इस सन्दर्भ में भारत में वाणिज्यिक मध्यस्थता की क्या समस्याएं हैं और कैसे इसे मजबूत बनाया जा सकता है ?

Overhaul in commercial arbitration is need of the hour to improve ease of doing business ranking. In this light, explain what are the problems of commercial arbitration in India and how this could be strengthened?

3. मरने का अधिकार: right to die

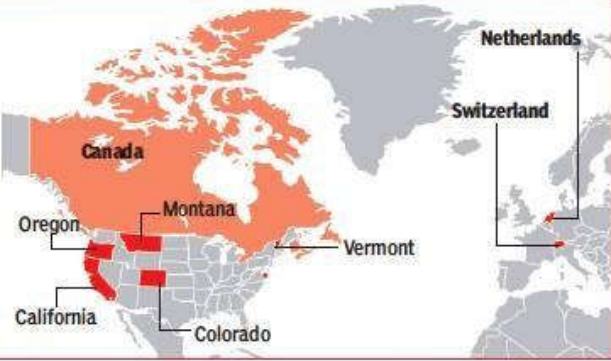
Supreme court ने इच्छामृत्यु को आत्महत्या से अलग करके जीने के अधिकार से जोड़ा और कहा कि सम्मान से जीने में गरिमा के साथ मरना भी शामिल है। यह सर्वथा उचित है। कारण यह कि इच्छामृत्यु और आत्महत्या दो अलग चीजें हैं। यदि उसे आत्महत्या के समकक्ष भी मानें तो यह विचार ज़रूरी होगा कि कोई व्यक्ति जीवन के अंत का निर्णय चरम हताशा या निराशा की स्थितियों में लेता है। इच्छामृत्यु में उस हताशा का स्रेत व्यक्ति के भीतर होता है, जैसे असहनीय पीड़ा जिसका जीते-जी कोई समाधान नहीं है

- Supreme court ने 9/03/2018 को एक प्रगतिशील ऐतिहासिक निर्णय में असाध्य रोग से ग्रस्त व्यक्ति को इच्छामृत्यु का कानूनी अधिकार प्रदान कर दिया। संविधानपीठ ने स्थापित कर दिया कि सम्मान से जीने के अधिकार के साथ ही गरिमापूर्ण मृत्यु का अधिकार भी मानवीय अधिकार है। इसके निहितार्थों पर अभी बहसें होंगी। लेकिन अपनी सीमाओं के बावजूद यह निर्णय का स्वागतयोग्य है।
- जिन असाध्य बीमारियों में सुधार की कोई संभावना नहीं रहती, मृत्यु निश्चित रहती है लेकिन असह्य कष्ट झेलना पड़ता है, जिनमें लम्बे समय तक केवल जीवन-रक्षक प्राणियों द्वारा सांस चलाये रखी जाती है, उनमें मरीज़ की वसीयत के आधार पर या उसके परिजनों या मित्रों के आवेदन पर हाईकोर्ट चिकित्सकों का एक दल नियुक्त करेगा; वही दल इच्छामृत्यु के आवेदन पर फैसला लेगा और उसी की निगरानी में जीवन-रक्षक पणाली हटाकर स्वाभाविक मृत्यु को आने दिया जायगा।
- इच्छामृत्यु दो तरह की है-मृत्युवरण (यूथनेसिया) और दयामरण (मर्सी किलिंग)। यह निर्णय सभी स्थितियों में लागू नहीं होगा। फिर भी यह निर्णय महत्त्वपूर्ण है क्योंकि अभी इंग्लैण्ड तक में यह अधिकार विवादों के घेरे में है। नीदरलैंड, बेल्जियम, स्विट्ज़रलैंड, हॉलैंड जैसे कुछ देशों में और अमेरिका के कुछ राज्यों में ही इसे कानूनी दर्जा प्राप्त है। इस दृष्टि से भारत अधिक सभ्य और मानवीय दिशा में अग्रसर हुआ है।
- सर्वोच्च न्यायालय ने केवल निष्क्रिय इच्छामृत्यु को अनुमति दी है। लगभग ढाई दशक पहले जब क्रांतिकारी माकपा नेता बी.टी. रणदिवे रक्त-कैंसर की असहनीय पीड़ा झेलते हुए मुंबई के अस्पताल में मृत्यु से संघर्ष कर रहे थे तब उन्होंने इच्छामृत्यु की मांग की थी। यह अनुमति उन्हें नहीं मिली। यदि उस समय कानून यह अनुमति देता तो यह सक्रिय इच्छामृत्यु होती क्योंकि असाध्य रोग

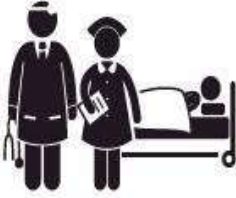
से मुक्ति और असहनीय कष्ट के निवारण के लिए मरीज़ की मांग पर चिकित्सक उन्हें मृत्यु की दवा देते। इसे दयामरण भी कहा जाता है।

1 WHAT IS EUTHANASIA?

Active Euthanasia
 ➤ Death caused by lethal injection or drugs, includes physician-assisted suicide. Active euthanasia illegal in most countries. The ones that allow active euthanasia shown on the map...



Passive Euthanasia
 When doctors don't provide, or remove patients from, life-sustaining treatment. Includes:
 ➤ Disconnecting life-support machines, feeding tubes, not carrying out life-saving operations, not providing life-extending drugs
 ➤ Non-treatment not seen as cause of death; patient understood to have died because of underlying condition



2 WHAT ARE LIVING WILLS

➤ Where individuals can express their wish at a prior point in time, when capable of making informed decisions, regarding their medical treatment in the future, when they may not be able to make an informed decision
 ➤ Exercise of the right to refuse treatment and the right to die with dignity

3 WHO CAN MAKE A LIVING WILL?

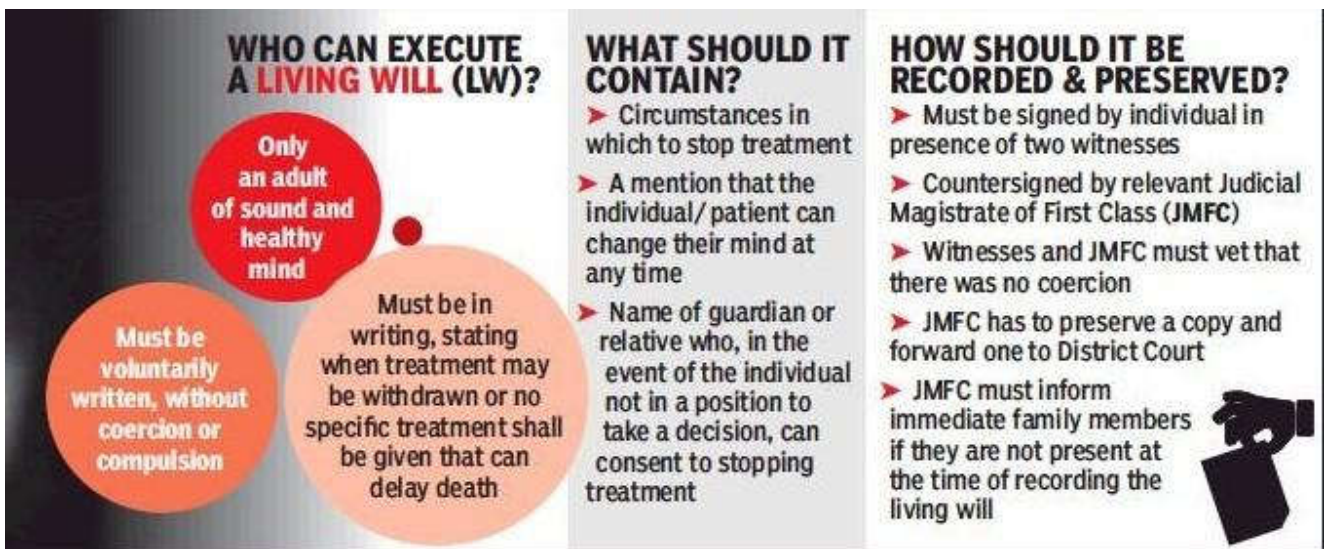
➤ Anybody can. SC's judgment allows living wills to be executed for the terminally ill. So you can make a living will that'll be in force in future if at the time you suffer from a terminal illness and cannot take a decision

4 SAFEGUARDS THAT SOME OTHER COUNTRIES THAT ALLOW LIVING WILLS, SPECIFY

<p>All countries that allow euthanasia have safeguards built into the provision in various ways</p> <ul style="list-style-type: none"> By allowing a person to change his/her mind By specifying who may act as witness By allowing validity of directive to be challenged 	<p>Netherlands Patients aged 16 or above may make advance directives</p>	<p>Germany Court authorisation reqd to stop treatment of minors</p>	<p>Switzerland Persons with mental illnesses cannot discontinue treatment if it is expression or symptom of their mental illness</p>	<p>UK Person can alter/ withdraw an advance decision at any time he has the capacity to do so</p>
	<p>Hungary Pregnant women can't refuse treatment if they're able to carry through the pregnancy</p>	<p>Australia Living wills to be signed in presence of two witnesses, with rules on who can be witness: Not if he/ she 1) is a substitute decision-maker in the living will, 2) stands to profit, directly or indirectly, from the person's estate or 3) is a health practitioner for the person writing the living will</p>	<p>Oregon, US Person can change his/ her mind at any time and as many times, quash a written request for medication regardless of mental state</p>	

दूसरी तरफ, लगभग तीस साल पहले बलात्कार की शिकार बनाई गई मुंबई की नर्स अरुणा शौनबाग की इच्छामृत्यु को 2014 में अदालत से अनुमति तो नहीं मिली, लेकिन उसकी स्थिति रणदिवे से अलग थी। अरुणा सत्ताईस वर्षों से अचेत, जीवन-रक्षक पंप्रालियों पर ही थी। उसे नहीं पता था कि वह जीवित है या नहीं, उसे कोई कष्ट है या नहीं। यदि उसे इच्छामृत्यु की अनुमति मिलती तो वह निष्क्रिय इच्छामृत्यु होती क्योंकि उसे किसी दवा की आवश्यकता नहीं थी, केवल जीवन-रक्षक पंप्राली हटाने की आवश्यकता थी। तब अदालत ने इसकी भी अनुमति नहीं दी थी। हालांकि 2015 में उसे यह अधिकार मिल गया और उसे अपने कष्ट से तथा कष्ट देनेवाले संसार से मुक्ति मिल गई। हैदराबाद के एक पूर्व शतरंज खिलाड़ी वेंकटेश ने

सन 2004 में अपनी मृत्यु से पहले अपनी मां के माध्यम से आंध्र प्रदेश हाईकोर्ट में अपील की थी कि उसे स्वेच्छापूर्वक मृत्यु का वरण करने दिया जाय ताकि उसके शरीर के उपयोगी अंग ज़रूरतमंद लोगों के काम आ सकें। उसे मांसपेशियों के क्षरण की बीमारी हो गयी थी (मस्कुलर डायस्ट्रोफी) जिसका इलाज नहीं था और सभी अंगों का तेज़ी से क्षय हो रहा था। उसने और उसकी मां ने साल भर पहले अंग दान किया था। वह चाहता था कि अंग दान की अंतिम इच्छा पूरी कर सके, लेकिन मृत्यु के बाद केवल आंखें दान की जा सकीं। गुर्दा और अन्य अंग व्यर्थ हो गए थे। उसे इच्छामृत्यु की अनुमति नहीं मिली क्योंकि उसे आत्महत्या के सामान माना जाता था और यह कानूनी अपराध था। साथ ही, मानव-अंग प्रत्यारोपण कानून के अनुसार तब तक केवल उसी व्यक्ति के अंग निकले जा सकते थे, जिसका मस्तिष्क किसी कारण से मृत हो गया हो। अन्यथा उसे चिकित्साशास्त्रीय दृष्टि से मृत नहीं माना जा सकता और जीवित व्यक्ति के अंगों को निकलना भी अपराध है।



इस तरह इच्छामृत्यु के प्रसंग में अनेक विषय उलझे हुए हैं, जिनके दायरे में नैतिक और कानूनी, सामाजिक और चिकित्साशास्त्रीय, जीववैज्ञानिक और मानवाधिकार सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोण आते हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने फैसले में इच्छामृत्यु को आत्महत्या से अलग करके जीने के अधिकार से जोड़ा और कहा कि सम्मान से जीने में गरिमा के साथ मरना भी शामिल है। यह सर्वथा उचित है। कारण यह कि इच्छामृत्यु और आत्महत्या दो अलग चीजें हैं। यदि उसे आत्महत्या के समकक्ष भी मानें तो यह विचार करना ज़रूरी होगा कि कोई व्यक्ति जीवन के अंत का निर्णय चरम हताशा या निराशा की स्थितियों में लेता है। इच्छामृत्यु में उस हताशा का स्रोत व्यक्ति के भीतर होता है, जैसे असहनीय पीड़ा जिसका जीते-जी कोई समाधान नहीं है लेकिन अपने निर्णय को लागू करने के लिए उसे दूसरों की सहायता की आवश्यकता होती है; आत्महत्या जीवन की जिस चरम हताशा की अभिव्यक्ति है, उसके स्रोत व्यक्ति के बाहर होते हैं, लेकिन अपने निर्णय को क्रियान्वित करने के लिए उसे दूसरों की सहायता की आवश्यकता नहीं होती।

होने को आत्महत्या और इच्छामृत्यु दोनों ही ‘‘मृत्यु का वरण’’ हैं, लेकिन इच्छामृत्यु किसी शारीरिक कष्ट के असह्य हो जाने का परिणाम है जिस कष्ट में उसे जीवित रखना-उसकी सहनशक्ति और इच्छा के विपरीत, बेहोशी की दवाओं के सहारे, केवल सांस चलाते रहना-एक प्रकार की क्रूरता है। अदालत ने कम-से-कम कुछ मामलों में मरीजों के इस मानवीय हक को मान्यता दी जिस ‘‘लिविंग विल’’ को कानूनी मान्यता मिली है, वह मजिस्ट्रेट के सामने लिखी हुई वसीयत है। यदि मरीज ने खुद ऐसी वसीयत नहीं लिखी है तो उसकी

असाध्य दशा में उसके निकट सम्बन्धी या मित्र लिखित आवेदन कर सकते हैं, जिसकी जांच करके उच्च न्यायालय एक चिकित्सक दल नियुक्त करेगा, उस दल के सुझाव पर और उसकी देखरेख में कार्रवाई संपन्न होगी। बेशक यह निष्क्रिय इच्छामृत्यु की मान्यता है, क्योंकि ऐसे में खुद मरीज़ अपनी मृत्यु नहीं चुनता बल्कि उसकी जीवन-रक्षक पण्डालियों को हटा दिया जाता है ताकि वह जीवित रहकर जो असहनीय कष्ट पा रहा है, उससे मुक्त हो सके। फिर भी यह एक कदम आगे की स्थिति है।

Q. जीवन भगवान का वरदान है और इसे वापस नहीं लिया जाना चाहिए। इस कथन के सन्दर्भ में Euthanasia. को अनुमति देने में शामिल नैतिक मुद्दों को उजागर करें।

Life is gift of god and should not be taken back. In light of this statement bring out ethical issues involved in allowing Euthanasia.

4. आंकड़ों के बाजार में हमारी निजता (Privacy)

फेसबुक को लेकर हालिया खुलासे ने विश्व के तमाम बड़े देशों की चिंताएं बढ़ा दी हैं। भारत में भी इसे लेकर तापमान गरम है। सबसे बड़ा खतरा यह बताया जा रहा है कि अगर बिचौलिए संस्थाओं यानी 'इंटरमीडियरी' कंपनियों ने डाटा में सेंधमारी की है, तो वे लोगों की निजी जानकारियों के इस्तेमाल की हर मुमकिन कोशिश करेंगी और उसका दुरुपयोग करते हुए उसे दूसरे देशों से साझा भी करेंगी। मगर हकीकत यही है कि फेसबुक के लाखों उपयोगकर्ताओं का डाटा अनधिकृत रूप से बांचा जा चुका है। फेसबुक इस समस्या को जानता है, और वह इसके निराकरण के लिए उचित कदम भी उठा रहा है। लेकिन इस पूरे मसले में हमारे लिए बड़ा सवाल यही है कि इस तरह की परिस्थितियों से निपटने में भारतीय कानून कितना सक्षम है?

Lesson for India (Analytica Fiasco)

बतौर एक मुल्क भारत को इस पूरी घटना से कुछ सबक लेने की जरूरत है। पहला और सबसे महत्वपूर्ण सबक यह है कि हमें इसे एक ऐसा मामला मानना चाहिए, जो हमारी आंखें खोलने वाला है। अगर लाखों लोगों के डाटा में सेंधमारी की जा सकती है और अमेरिकी चुनाव को प्रभावित किया जा सकता है, तो इसकी कोई वजह नहीं है कि ऐसा भारत में चुनाव के समय नहीं हो सकता। ऐसा इसलिए, क्योंकि भारत में फेसबुक के सबसे ज्यादा उपयोगकर्ता हैं। फिर अपना साइबर कानून भी इस प्रकार की चुनौतियों से पार पाने के लिए पर्याप्त नहीं है।

Laws in India

यह सही है कि भारतीय सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम, 2000 की धारा 2 (1) (डब्ल्यू) में 'इंटरमीडियरी' की परिभाषा विस्तारपूर्वक दी गई है। उसमें फेसबुक जैसी सर्विस देने वाली तमाम कंपनियों के बारे में भी बताया गया है, क्योंकि इस तरह की कंपनियां 'थर्ड पार्टी' यानी तीसरे पक्ष के डाटा का व्यापार करती हैं और उसके बदले अपनी सेवाएं देती हैं। इस अधिनियम की धारा 79 में यह सुनिश्चित किया गया है कि 'इंटरमीडियरी' अपने दायित्वों का निर्वहन करते समय उचित सावधानी बरतेंगी। इसके कुछ प्रावधान तो कानून लागू होने के समय ही परिभाषित कर दिए गए थे। मगर सच यह भी है कि ताजा घटनाओं से जो चुनौतियां उभरी हैं, वे किसी प्रावधान में परिभाषित नहीं की गई हैं।

लिहाजा यह वक्त हमारे लिए 'इंटरमीडियरी' के दायित्वों पर फिर से गौर करने का होना चाहिए।

‘श्रेया सिंघल बनाम भारत सरकार’ के मामले में शीर्ष अदालत ने इन कंपनियों को अपने दायित्वों के निर्वहन को लेकर कुछ राहत ही दी है। कंपनियों ने उस फैसले को इस रूप में भुनाया कि जब तक पुलिस या कोई सरकारी आदेश उन्हें नहीं कहता, वे ऐसे मामलों में अपने तर्क कार्रवाई नहीं करेंगी। ऐसे में, हमारे लिए यह अच्छा मौका है कि हम इन कंपनियों के दायित्वों को लेकर कानूनी प्रावधान की समीक्षा करें। इसी तरह, हमें यह भी सुनिश्चित करना होगा कि बतौर डाटा संग्रहकर्ता इन कंपनियों के पास ऐसे अधिकार नहीं हों कि वे किसी भी भारतीय की निजी जानकारियों का अनधिकृत इस्तेमाल कर सकें। यह उस भारतीय की निजता के लिए ही नहीं, भारत की संप्रभुता, सुरक्षा व अखंडता के लिए भी जरूरी है।

5. देश भर में अब समान पारिश्रमिक

मंत्रिमंडल ने वेतन नियमों को मंजूरी दे दी, जिनसे न्यूनतम वेतन सभी कर्मचारियों का अधिकार बन जाएगा। वेतन विधेयक के इन नियमों को वित्त मंत्री अरुण जेटली की अगुआई वाला अंतर-मंत्रालयसमूह पहले ही मंजूरी दे चुका है।

- इन नियमों से सभी उद्योगों और कामगारों के लिए एकसमान न्यूनतम वेतन सुनिश्चित होगा।
- वेतन विधेयक के ये नियम केंद्र को सभी क्षेत्रों के लिए न्यूनतम वेतन तय करने का अधिकार देते हैं, जिनका सभी राज्यों को पालन करना होगा।
- हालांकि राज्य केंद्र द्वारा तय वेतन से अधिक न्यूनतम वेतन भी मुहैया कराने के लिए स्वतंत्र हैं क्योंकि श्रम समवर्ती सूची का विषय है।

Who comes under this law?

इन नियमों को संसद की मंजूरी के बाद 18,000 रुपये से अधिक वेतन प्राप्त करने वाले कामगार भी न्यूनतम वेतन के हकदार होंगे। इस समय वेतन कानून के दायरे में वे कर्मचारी नहीं आते हैं, जिन्हें हरमहीने 18,000 रुपये से ज्यादा वेतन मिलता है। इसके अलावा न्यूनतम वेतन सभी वर्ग के कर्मचारियों पर लागू होगा, जो इस समय कानून में केवल अनुसूचित उद्योगों और प्रतिष्ठानों पर ही लागू होता है।

वेतन पर इन नियमों के तहत श्रम मंत्रालय ने वेतन से संबंधित चार कानूनों के एकीकरण के जरिये वेतन की परिभाषा को सरल बनाने की योजना बनाई है। ये कानून :

- न्यूनतम वेतन अधिनियम 1948,
- वेतन का भुगतान अधिनियम 1936,
- बोनस का भुगतान अधिनियम 1965 और
- समान पारिश्रमिक अधिनियम 1976 हैं।

इस समय एक क्षेत्र में चुकाए जाने वाला वेतन दूसरे क्षेत्र से 10 से 30 फीसदी तक कम या ज्यादा हो सकता है। इस समय किसी कार्मिक का वेतन किराये, खाने-

पीने और परिवहन की लागत के अलावा उस क्षेत्र के विकास, आर्थिक समृद्धता और जीवन स्तर से तय होता है। उदाहरण के लिए मुंबई में औसत वेतन कोलकाता की तुलना में करीब 30 फीसदी अधिक है। इसकी वजह यह है कि मुंबई में खाने-पीने और घर के किराये की लागत अधिक है

6. प्राइवेट नागरिकों का मौलिक अधिकार?

संसद और सुप्रीम कोर्ट ने हाल ही में अनुच्छेद 21 के हिस्से के रूप में निजता यानी प्राइवैसी के अधिकार को हटाने के लिए संविधान संशोधन का सुझाव दिया। इस अनुच्छेद के तहत देश के सभी नागरिकों को जीवन का अधिकार मौलिक अधिकार के रूप में दिया गया है।

- अब संसद प्राइवैसी के अधिकार को 'पात्रता' आधारित मौलिक अधिकार बनाना चाहती है।
- इसका मतलब है कि इसे प्रकरण-दर-प्रकरण के आधार पर मूलभूत अधिकार की तरह लिया जाएगा।
- निजता का अधिकार उन अधिकारों में से एक है, जिसका हवाला अनुच्छेद 377 के तहत समलैंगिकता को अपराध मानने के खिलाफ दायर याचिका में दिया गया था। इस याचिका में दलील दी गई थी कि आपस में सहमत दो वयस्कों के बीच उनकी निजता के दौरान जो भी होता है, उससे शासन व्यवस्था को कोई लेना-देना नहीं होना चाहिए। इस प्रकार निजता का अधिकार होना अथवा प्रकरण के मुताबिक उसका दर्जा तय किए जाने से उक्त वर्ग के लोगों के लिए खतरे की बात है।
- मूलभूत अधिकारों में से निजता के अधिकार को हटाना महिला के लिए खतरनाक है, क्योंकि यह महिलाओं की सुरक्षा में बड़ा जोखिम पैदा कर देगा।
- नारीवादी टिप्पणीकारों के मुताबिक निजता के अधिकार को मूल अधिकार मानने से दिल्ली में निर्भया दुष्कर्म मामले के बाद महिलाओं की सुरक्षा के लिए किए गए प्रावधान उपाय बेअसर हो जाएंगे।
- मसलन, स्टार्किंग यानी पीछा किए जाने या रिवेज पॉर्न सहित कोई भी आक्रामक व्यवहार, जो महिला की निजता सुरक्षा के लिए नुकसानदायक है, उसे प्रकरण-दर-प्रकरण देखा जाएगा।
- इस तरह गरिमापूर्ण जीवन जीने के महिलाओं के अधिकार की व्याख्या अदालतें करेंगी।
- इससे महिला के लिए बड़ी विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जाएगी।
- सबसे बड़ी बात यह है कि निजता के अधिकार को मूल अधिकार से हटाना सभी नागरिकों के लिए खतरे की बात है, क्योंकि सुनिश्चित संवैधानिक संरक्षण के अभाव में व्यक्ति को कई तरह के व्यवहार का निशाना बनने का जोखिम होगा और वह गरिमापूर्ण जीवन जीने से वंचित होगा।

7. पूर्ण स्वतंत्रता आवश्यक

70 years after independence if we look back we have some achievement however still most of our population are not truly independent

India proved its critics wrong

सत्तर वर्ष पहले भारत को ब्रिटेन से राजनीतिक आजादी हासिल हुई थी। इन तमाम दशकों के दौरान तमाम विपरीत परिस्थितियों से जूझते हुए हमारे देश ने अपनी एकता बरकरार रखी। यह कोई छोटी उपलब्धि नहीं है। परंतु राजनीतिक स्वतंत्रता की यह निरंतरता बीते दशकों के दौरान अन्य क्षेत्रों में विस्तारित नहीं हुई। खासतौर पर देश के लोगों को राजनीतिक आजादी तो मिली लेकिन वे आजादी के अन्य पहलुओं से वंचित रहे। कहने का तात्पर्य यह कि 15 अगस्त को हम जिस आजादी का जश्न मनाते हैं वह काफी हद तक एकांगी है।

Some failures

- ✓ बीते सात दशकों के दौरान लोगों ने राजनीतिक स्वतंत्रता को अपना अधिकार माना है लेकिन उन्हें उस अनुपात में आर्थिक आजादी नहीं मिली।

- ✓ भारत सरकार ने अपने शुरुआती दौर में देश की आबादी के बड़े तबके को आर्थिक स्वतंत्रता नहीं दी। संपत्ति के अधिकार कभी सही मायनों में संरक्षित नहीं किए गए और उद्यमिता पर समाजवादी शैली के नियंत्रण लगा दिए गए।
- ✓ वर्ष 1991 में हुए आर्थिक सुधारों के ढाई दशक बीत चुके हैं। इस अवधि में भी पूरा नियंत्रण समाप्त नहीं हुआ है। भारत अभी भी ऐसा देश है जहां कारोबारी जगत के सामान्य कामकाज में हस्तक्षेप होता है। दो लोगों के निजी अनुबंध में भी दखल होता है।
- ✓ आर्थिक आजादी की परिकल्पना नहीं है। आर्थिक गतिविधियों को आज भी राज्य की पसंद का मामला माना जाता है। जब तक राजनीतिक आजादी के साथ सही अर्थों में आर्थिक स्वतंत्रता नहीं मिलेगी, स्वतंत्रता दिवस एक अधूरी आजादी का उत्सव बना रहेगा।
- ✓ चाहे जो भी हो, अमत्र्य सेन ने लिखा था कि व्यक्तिगत आजादी और एक न्यूनतम स्तर की आर्थिक संपन्नता तथा सामाजिक सम्मान के बीच संबंध है। उन्होंने कहा था कि बिना आजाद जिंदगी जीने की आजादी के यह सांकेतिक आजादी निरर्थक है। हमारे देश में ऐसे ही हालात बरकरार हैं। वंचित वर्गों-
कुछ धार्मिक अल्पसंख्यकों, दलितों, महिलाओं, आदिवासियों आदि को मताधिकार और आजादी का तकनीकी लाभ तो हासिल है लेकिन उनके रोजमर्रा के जीवन में जो भेदभाव है
- ✓ वह उनकी आजादी को काफी हद तक प्रभावित करता है। जो लोग वंचित वर्ग में पैदा नहीं हुए हैं उनके लिए भी देश में व्याप्त गरीबी यही बताती है कि आबादी का एक बड़ा हिस्सा न्यूनतम संसाधनों के साथ जिंदगी बसर कर रहा है। जबकि सन 1947 में मिली आजादी के इतने अरसे बाद तो उनको इसका पूरा लाभ मिलना चाहिए था। यही वजह है कि जगमगाते शॉपिंग मॉल और स्टार्टअप कीचमक के पीछे एक विशाल, भ्रमित और गरीब भारत मौजूद है। देश के तेजतर्रार वैश्वीकरण से जुड़े विचारकों, बौद्धिकों और उद्योगपतियों के साथ उनकी कोई साझेदारी नहीं है।

True Meaning of Independence

- ✓ आजादी का अर्थ यह है कि हर व्यक्ति को अपनी जिंदगी जीने के मामले में चयन की भरपूर स्वतंत्रता हो। इसका अर्थ यह भी है कि इस चयन में सरकार का कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। • उन्हें हर तरह की आजादी हासिल होनी चाहिए। यह भी सच है कि आजादी के लिए एक न्यूनतम स्तर की आय और व्यक्तिगत सम्मान भी नितांत आवश्यक हैं।
- ✓ देश के अधिकांश लोगों को यह मयस्सर नहीं। मिसाल के तौर पर जब देश के अधिकांश लोगों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने की आरामदेह सुविधा नहीं है तो फिर मुक्त आवागमन की आजादी मजाक नहीं तो भला और क्या है? लोगों को रेलवे प्लेटफॉर्म पर सोना पड़ता है, वे छतों पर आशियाना बनाते हैं या खराब सड़कों के किनारे मीलों पैदल चलते हैं। ऐसी आजादी का क्या मतलब? निजता के अधिकार की रक्षा के बिना आजादी को पूरा कैसे माना जा सकता है? स्वतंत्रता दिवस पर देश के लोगों को यह निश्चित करना चाहिए कि अभी आजादी की लड़ाई किस हद तक बाकी है

8. न्यूनतम वेतन प्रस्ताव के बड़े हैं जोखिम

Minimum wages idea

18,000 रुपये को राष्ट्रीय न्यूनतम वेतन घोषित करने का प्रस्ताव औपचारिक क्षेत्र के रोजगार को नुकसान पहुंचाएगा क्योंकि वेतन और जीवन स्तर की लागत बेमेल हो जाएगी। यह निर्णय इसलिए भी घातक है क्योंकि अधिकांश उद्यमियों को लगता था कि शायद पिछली सरकार की सलाहकार परिषद की अदूरदर्शिता से सबक लिया गया हो। उसकी अल्पकालिक नीतियों ने हमें अर्थव्यवस्था में मंदी विरासत में दी। इस सरकार ने नोटबंदी, दिवालिया कानून और जीएसटी के रूप में कई नीतिगत रूप से जोखिम भरे कदमों का समझदारी भरा उपयोग किया है। परंतु राष्ट्रीय न्यूनतम आय को लेकर कोई दीर्घकालिक समझ सामने नहीं आ रही है। यह एक अनावश्यक और बांटने वाला फैसला है। श्रममंत्रालय ने औपचारिक रोजगार सृजन की कोई मदद नहीं की है और यह प्रस्ताव उसे छिपाने की कोशिश है।

- यह कदम सरकार के सबसे प्रभावी नवाचारों में से एक प्रतिस्पर्धी संघवाद को नुकसान पहुंचा सकता है। देश में पूंजी बाजार नामक चीज है लेकिन श्रम बाजार पूरी तरह अनुपस्थित है। यही वजह है कि व्यापक निर्माण के मामले में 29 राज्यों के मुख्यमंत्री एक प्रधानमंत्री से अधिक मायने रखते हैं।
- उत्तर प्रदेश श्रम निर्यात करने वाला बाजार है जहां से हर साल हजारों श्रमिक दूसरे प्रदेशों को जाते हैं। वह केरल जैसे बाजार से एकदम अलग है जहां दूसरी जगहों से श्रमिक आते हैं। वहां 9.5 फीसदी श्रमिक बिहार से आते हैं। केंद्र सरकार ने पहले ही न्यूनतम वेतन अधिनियम 1948 की धारा 2 के अधीन 45 उद्योगों का न्यूनतम वेतन निर्धारित कर दिया है। सांकेतिक राष्ट्रीय दर की बात करें तो फिलहाल राष्ट्रीय न्यूनतम वेतन 160 रुपये है और राज्यों पर बाध्यकारी नहीं है। अगर प्रस्तावित दर तय होती है तो राज्य सरकारों का 1,679 अन्य उद्योगों का वेतन तय करने का अधिकार ही समाप्त हो जाएगा। आखिर मुख्यमंत्रियों के अधिकार क्यों छीने जाएं।

Labour reform world over

श्रम सुधार पूरी दुनिया में विवादित है। इसके चलते इटली के युवा प्रधानमंत्री को अपना जन समर्थन गंवाना पड़ा। फ्रांस के समाजवादी प्रधानमंत्री दोबारा निर्वाचन के लिए प्रस्तुत नहीं हुए और जर्मनी की लोकप्रिय चांसलर एंगेला मर्केल के अलोकप्रिय प्रतिद्वंद्वी की लोकप्रियता बढ़ गई है क्योंकि उसने 2001 के श्रम सुधार पलटने का वादा किया है।

- ✓ श्रम कानून अक्सर युवाओं की कीमत पर पुराने लोगों का संरक्षण करते हैं। श्रम संगठनों की भूमिका की बात करें तो उन्होंने रोजगार संरक्षण को ही रोजगार निर्माण मानने की भूमिका अपना ली है।
- ✓ विभिन्न देश अक्सर जब विकल्पहीन हो जाते हैं तो इन सुधारों की दिशा में जाते हैं। जर्मनी में 2001 में हाट्टज आयोग के सुधार अपनाए गए क्योंकि उस वक्त देश की हालत खस्ता थी। सन 1990 के दशक में वहां मेहनताने का तेजीसे विकेंद्रीकरण किया गया था क्योंकि बचाव का वही एक रास्ता नजर आ रहा था। जापान दो दशक तक बेहाल रहा और वहां श्रम शक्ति में महिलाओं की कम भागीदारी ने श्रम सुधारों की राह सुनिश्चित की और अब फ्रांस के नए प्रधानमंत्री मैक्रों श्रम सुधारों की मांग के बावजूद चुनाव जीत गए क्योंकि वहां के लोगों को समझ में आ गया है कि रोजगार के मामले में हालात आपातकालीन हो चुके हैं। हमारे देश में भी श्रम सुधारों की आवश्यकता काफी पहले से है।
- ✓ राजनीतिक नजरिये से देखें तो पांच वर्षीय नीति सही होगी क्योंकि आजादी की 75वीं वर्षगांठ आजादी और स्वतंत्रता के बीच के अंतर को रेखांकित करने के लिए बेहतर विकल्प होगी। आजादी विक

ल्यों के साथ आती है और विकल्पतैयार करने का सबसे बेहतर मार्ग नौकरियां हैं। जीएसटी, नोट बंदी, कारोबारी सुगमता जैसे कदमों से देश की व्यवस्था को औपचारिक ही तो किया जा रहा है। बीते तीन साल में हमने भविष्य निधि में एक करोड़ और ईएसआई में 1.3 करोड़ अदाकर्ता जोड़े हैं। इस प्रक्रिया को खत्म करने की कोशिश क्यों की जा रही है?

बीते तीन सालों में श्रम मंत्रालय ने कोई खास नीति, क्षमता या कल्पनाशीलता नहीं दिखाई है। उसका कमजोर प्रदर्शन अब उसे मजबूर कर रहा है लेकिन उसे ईपीएफओ के लिए प्रतिस्पर्धा तैयार करनी चाहिए। यह दुनिया का सबसे महंगा सरकारी प्रतिभूति म्युचुअल फंड चलाकर नियोक्ताओं को लूटता है। इस योजना में अगर एक चालू खाता होगा तो चार सुसुप्त होंगे। ईएसआई देश का सबसे खराब स्वास्थ्य बीमा है। जहां दावों का अनुपात 45 फीसदी है और उसमें कर्मचारियों के 30,000 करोड़ रुपये जमा हैं। सरकार को संस्थानों के लिए यूनिवर्सल एंटरप्राइज नंबर की ओर आगे बढ़ना चाहिए बजाय कि एकीकृत प्रतिष्ठान संख्या के। उसे सभी रिटर्न, चालान, रजिस्टर, लाइसेंस आदि को ऑनलाइन करना चाहिए और पूरी तरह कागजी कार्रवाई से मुक्त होना चाहिए।

Some other argument against Minimum wages act

राष्ट्रीय न्यूनतम वेतन कानून इसलिए भी ठीक नहीं क्योंकि यह संविधान के अनुच्छेद 252 (2) के उपयोग को निष्प्रभावी करता है। इस विधान के तहत सात राज्यों को यह अधिकार है कि वे केंद्रीय श्रम कानूनों में संशोधन कर सकें। अगर केंद्र सरकार तय करने लगेगी कि मुंबई, इटावा, कानपुर, किशतवाड़ और मैसूर में समान वेतन मिलेगा तो राज्य रोजगारोन्मुखी आदतें कैसे विकसित कर पाएंगे? इस आलेख के आरंभ में जिस बच्चे का जिक्र था उसने कहा था कि मुंबई में उसे ग्वालियर की तुलना में चार गुना वेतन चाहिए क्योंकि मुंबई जाकर 10,000 रुपये कमाने वाले लोग वापस लौट आए। इस पैसे में वहां खाना, रहना और कार्यालय जाना नहीं हो पाता। न्यूनतम वेतन को धीरे-धीरे बढ़ाने का एकमात्र तरीका है गैर कृषि, औपचारिक रोजगार में इजाफा। चीन ने बीते चार सालों में हर तिमाही के बाद न्यूनतम वेतन बढ़ाया है। ऐसा तब हुआ जबकि उत्पादकता लगातार बढ़ती गई। ऐसा इसलिए किया गया क्योंकि गैर कृषि रोजगार की ओर पलायन लगातार बढ़ता गया। सन 1978 के बाद से 64 करोड़ लोग इस दिशा में गए हैं।

A concluding mark

न्यूनतम वेतन में इजाफा करना दुनिया भर के राजनेताओं को पसंद रहा है क्योंकि यह मतदाताओं को काफी पसंद आता है। यह कर बढ़ाने का सस्ता विकल्प है, इसकी कोई लागत नजर नहीं आती है और यह गरीबों के लिए मददगार होता है। परंतु भारत जैसे कम औपचारिक रोजगार वाले क्षेत्र के लिए यह सही नहीं है। साथ ही यह संघवाद को प्रतिस्पर्धी बनाने की भावना के प्रतिकूल है। परंतु इसका सबसे बुरा असर हमारे युवाओं पर पड़ेगा। उच्च वेतन के बजाय उनको औपचारिक तौर पर मिलने वाला वेतन ही शून्य हो जाएगा। इस प्रक्रिया को रोका जाना चाहिए

9. कुपोषण (malnutrition) के शिकार

राष्ट्रीय पोषण कार्यनीति का एलान करते हुए नीति आयोग ने माना है कि कुपोषण देश के विकास में सबसे बड़ी बाधा है। राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति की तर्ज पर बनाई गई इस पोषण रणनीति के तहत पोषण को राष्ट्रीय विकास एजेंडे का हिस्सा बनाने की बात है, ताकि कुपोषित बच्चों के लिए जो भी काम हों, उनका फायदा बच्चों तक पहुंचे। 2030 तक देश से हर तरह का कुपोषण खत्म कर देने का संकल्प लेकर तैयार की गई इस कार्यनीति में पोषण को विकास का आधार बताते हुए कहा गया है कि:

- यह गरीबी को नीचे लाने और आर्थिक विकास के लिए महत्वपूर्ण है।
- कुपोषण से मुकाबला करने के इस अभियान में नीति आयोग के साथ देश के सभी राज्यों को बराबर का भागीदार बनाया जाएगा। पर इस चुनौती भरे मिशन पर अमल कराने का जिम्मा नौकरशाही पर ही है, इसलिए इसकी कामयाबी को लेकर संदेह हो सकते हैं।
- यह वाकई चौंकाने वाली और बेहद दुखदायी बात है कि 21वीं सदी के भारत में आज भी हर तीसरा बच्चा कुपोषित है। जबकि एकीकृत बाल विकास कार्यक्रम के नाम से दुनिया में कुपोषण निवारण की सबसे बड़ी योजना भारत में ही अरसे से चलाई जा रही है।

आखिर इस योजना का हासिल क्या है?

- 2015 तक जो सहस्राब्दी लक्ष्य प्राप्त करने थे उनमें से भारत एक भी हासिल नहीं कर पाया है। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वे के आंकड़े बताते हैं कि इस वक्त भारत में पांच साल से कम उम्र के 35.7 फीसद बच्चे कुपोषण से ग्रस्त हैं और इस वजह से उनका वजन अपेक्षित औसत वजन से कम है।
- इतना ही नहीं, 15 से 49 साल के बीच की तिरपन फीसद से ज्यादा महिलाएं खून की कमी से पीड़ित हैं। सोचने वाली बात है कि जब बच्चों की जन्मदात्री खुद कुपोषण का शिकार होगी तो जन्म लेने वाले बच्चे कैसे स्वस्थ होंगे! निश्चित ही यह उस तबके की जमीनी हकीकत है जिसे न साफ पानी पीने को मिल पाता है न भरपेट खाना। पौष्टिक चीजें तो दूर की बात हैं इनके लिए। पर्याप्त भोजन और पीने के साफ पानी के अभाव में बड़ी संख्या में बच्चे बचपन से ही शारीरिक और मानसिक बीमारियों की जद में आ जाते हैं।

चाहे महानगर हों या दूरदराज के इलाके, देश के हर हिस्से में संक्रामक बीमारियों की मार सबसे ज्यादा कुपोषितों और वह भी खासतौर से बच्चों पर ही पड़ती है। संक्रामक बीमारियां फैलने की बड़ी और मूल वजह तो कुपोषण ही है।

जिस देश में बच्चे ही स्वस्थ नहीं होंगे, वह विकास क्या कर पाएगा! अगर भारत को कुपोषण-मुक्त बनाना है तो पहली जरूरत देश के हर नागरिक को साफ पानी, पर्याप्त पौष्टिक भोजन और स्वास्थ्य सुविधाएं मुहैया कराने का बीड़ा उठाने की है। और यह बड़ा चुनौती भरा काम है जो अपेक्षित संसाधन आबंटन व गहरी राजनीतिक इच्छाशक्ति की मांग करता है। लेकिन मौजूदा हकीकत यह है कि भारत की गिनती दुनिया के ऐसे देशों में होती है जहां स्वास्थ्य के मद में सरकारी खर्च सबसे कम है। जाहिर है, कुपोषण के खात्मे के लिए योजनाओं के कार्यान्वयन में कारगर सुधार के साथ-साथ अपनी प्राथमिकताएं भी बदलनी होंगी।

10. 1922 से लेकर अब तक आर्थिक असमानता (Economic inequality) की खाई स्थिति अत्यंत भयानक

Increasing gap between rich & poor

नब्बे के दशक में जब देश में आर्थिक सुधार शुरू हुए, तो पूरी आबादी का एक छोटा-सा हिस्सा तेजी से था, जो ऊपर के वर्ग में था।

देश के एक प्रतिशत लोगों के पास देश का 58 प्रतिशत धन है। देश के 84 अरबपतियों के पास 248 अरब डॉलर की दौलत है। इस तरह के आंकड़े दुनिया के कई देशों से आ रहे हैं, लेकिन भारत के आंकड़े विचलित करने वाले हैं।

Recent report by French Economist

- प्रसिद्ध फ्रेंच अर्थशास्त्री थामस पिकेटी और उनके सहयोगी लुकास चांसेल ने अपने एक अध्ययन में पाया है कि देश में आयकर कानून लागू किए जाने के वर्ष 1922 से लेकर अब तक आर्थिक असमानता की खाई की जो स्थिति है, अत्यंत भयानक है।
- अध्ययन कहता है कि देश की कुल आय का 22 प्रतिशत हिस्सा सिर्फ एक प्रतिशत लोगों के हाथ में है। उनके मुताबिक 1922 से 2014 की अवधि में यह अंतर तेजी से बढ़ा।

आर्थिक सुधारों ने हालात में जबर्दस्त बदलाव किया। अमीर और अमीर होते चले गए, जबकि गरीब वहीं समृद्ध होने लगा। ऐसा नहीं था कि बाकी लोगों को उसका फायदा नहीं मिल रहा था, करोड़ों लोग गरीबी रेखा से ऊपर चले गए, लेकिन गरीब-अमीर के बीच का फासला तेजी से बढ़ता जा रहा था। अब हालत यह है कि भारत आर्थिक असमानता के मामले में दुनिया में दूसरे नंबर का देश बन गया है। यानी कि गरीबों और अमीरों की आय में इतना बड़ा फासला हो गया है कि उसे खत्म करना तो दूर, कम करना भी संभव नहीं है। असमानता का इंडेक्स 1990 में जहां 45.18 था, वहीं यह 2013 में बढ़कर 51.36 हो गया। यह गति दुनिया में सबसे ज्यादा रही है। ऐसा नहीं है कि अन्य लोगों के पास धन नहीं आया, लेकिन वह उस अनुपात में नहीं

- खड़े रह गए। दुनिया में ऐसी असमानता कहीं देखी नहीं गई थी।

नई कॉर्पोरेट संस्कृति ने आर्थिक विषमता को बढ़ावा देने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। हाल ही में एक सर्वेक्षण में पाया गया कि देश की एक बहुत बड़ी आईटी कंपनी के सीईओ का वेतन उसी कंपनी के एक औसत कर्मि से 416 गुना ज्यादा है। ताजा रिपोर्ट यह भी कहती है कि दौलत के थोड़े से लोगों के हाथों में जमा होने का असर देश की राजनीति पर भी पड़ा है, क्योंकि अरबपतियों के पास राजनीतिक ताकत आ गई है। आज भारतीय राजनीति में दौलतमंदों का प्रभाव बढ़ता जा रहा है और समाज के कमजोर तबकों की उपेक्षा आम बात होती जा रही है। आर्थिक सुधारों ने भारत की राजनीति पर सबसे ज्यादा असर डाला है। इसकी झलक इसी बात से मिलती है कि इस 16 वीं लोकसभा में 400 से भी ज्यादा सांसद करोड़पति हैं।

Explanation of this gap by some economist

कुछ अर्थशास्त्रियों का मानना है कि ऐसा टैक्स की ऊपरी सीमा में कटौती के कारण हुआ और देश में आय में असमानता बढ़ी। 1980 के बाद सरकार की सोच बदली और ऐसा कहा गया कि अगर टैक्स की ऊपरी सीमा घटाई जाएगी, तो टैक्स देने वालों की तादाद स्वतः बढ़ेगी। लेकिन यह बात आंशिक रूप से ही सच हुई। अब सच्चाई यह है कि भारत सरकार अपनी जीडीपी का महज 16.7 प्रतिशत टैक्स के जरिये पाती है, जो औसत विकासशील देशों से काफी कम है। अगर सरकार की कमाई टैक्स के जरिये ज्यादा होगी तो उसके खर्च में भी बढ़ोतरी होगी।

How to remove this gap

कैसे दूर होगी यह असमानता? जाहिर है कि यह विषम असमानता सरकार की नीतियों के कारण पैदा हुई है और यह उसके द्वारा ही खत्म होगी।

- सरकार को अपनी कल्याणकारी योजनाओं पर कहीं ज्यादा खर्च करना होगा। उसे स्वास्थ्य और शिक्षा पर कहीं ज्यादा राशि आवंटित करनी होगी। अभी इन मदों पर हमारा देश बहुत ही कम खर्च करता है।

- शिक्षा पर हम कुल जीडीपी का 3.1 प्रतिशत और स्वास्थ्य पर महज 1.3 प्रतिशत खर्च करते हैं, जो अपर्याप्त है। मध्यम वर्ग को अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए निजी स्कूलों का सहारा लेना पड़ता है और इसी तरह बीमार होने पर महंगे अस्पतालों का सहारा लेना होता है। इससे उनकी कुल संपत्ति में क्षरण होता है और वे ऊपर के वर्ग में जा नहीं पाते। इस खर्च को बढ़ाकर हम देश की बहुत बड़ी आबादी के जीवन स्तर को ऊंचा कर सकते हैं
- भारत की अर्थव्यवस्था में जो अभी क्रय शक्ति समानता के आधार पर 9.4 खरब डॉलर की है, बहुत संभावनाएं हैं। इस आकार की अर्थव्यवस्था में समाज के सभी तबके के लिए काफी कुछ है। जिन 13 देशों विकासशील देशों ने असमानता दूर करने की कोशिश की और सफल भी हुए, उन्होंने जनता के लिए कल्याणकारी योजनाओं को खूब बढ़ावा दिया, टैक्स के ढांचे में मूलभूत बदलाव किया और मजदूरों के अधिकारों की ओर ध्यान दिया। भारत में आम मजदूरों की हालत तो थोड़ी ठीक है, पर महिला श्रमिकों को आज भी उनसे 30 प्रतिशत कम राशि मिलती है, जो अपर्याप्त है। इससे उनके जीवन-यापन पर फर्क पड़ता है। टैक्स के मामले में उन्होंने ऐसी व्यवस्था की कि अधिक धन वालों को उसी अनुपात में कहीं ज्यादा टैक्स देना पड़े। पर भारत में ऐसी प्रतिबद्धता नहीं दिखती और इसलिए गरीबी कम करने के वैश्विक प्रतिबद्धता के इंडेक्स में कुल 152 देशों में भारत 132वें नंबर पर है।

अगर सरकार कल्याणकारी योजनाओं पर खर्च बढ़ाएगी, तो यह धन कहां से आएगा, यह सवाल महत्वपूर्ण है। इसके लिए सरकार को अपनी टैक्स नीति में बदलाव करना होगा। टैक्स का दायरा बढ़ाना होगा और जरूरत हो तो ढांचा भी बदलना होगा। सिर्फ यह सोचकर कि ऊपर के वर्ग पर टैक्स बढ़ाने से कारोबार और निवेश को धक्का लगेगा, सरकार को हिचकना नहीं चाहिए। उसे हर हालत में टैक्स से कुल प्राप्ति बढ़ाने की कोशिश करनी ही होगी। अगर ज्यादा से ज्यादा लोगों की आय बढ़ती है, तो उनके खर्च में भी बढ़ोतरी होगी। इससे मैनुफैक्चरिंग उद्योग को बढ़ावा मिलेगा, जो अंततः जीडीपी में वृद्धि का सबब बनेगा।

11. ताजा भूख सूचकांक में भारत

Global Hunger Ranking of India

इंटरनेशनल फूड पालिसी रिसर्च इंस्टीट्यूट की ताजा रिपोर्ट, जो विगत सत्रह सालों से वैश्विक भूख सूचकांक जारी करती आ रही है, बताती है कि 119 विकसनशील मुल्कों की सूची में भारत 100वें स्थान पर है, जबकि पिछले साल यही स्थान 97 था।

- ✓ साल 2014 के सूचकांक में भारत की रैंक 55 थी। सिर्फ पाकिस्तान को छोड़ दें, जिसका भूख सूचकांक 106 है, तो बाकी पड़ोसी देश भारत से बेहतर स्थिति में हैं। नेपाल-72, म्यांमार-77, बांग्लादेश-88 और चीन-29 पर है। उत्तर कोरिया-93, इराक-78 भी भारत से बेहतर स्थिति में हैं
- ✓ यह रिपोर्ट विगत माह संयुक्त राष्ट्र की तरफ से जारी 'स्टेट ऑफ फूड सिक्योरिटी एंड न्यूट्रिशन इन द वर्ल्ड- 2017' की रिपोर्ट की ही तस्दीक करती है

More from report

- ✓ भारत में भूखे लोगों की तादाद 19 करोड़ से अधिक है- जो उसकी कुल आबादी का 14.5 फीसदी है.
- ✓ पांच साल से कम उम्र के भारत के 38.4 फीसदी बच्चे अल्पविकसित हैं, जबकि प्रजनन की उम्र की 51.4 फीसदी स्त्रियां एनिमिक यानि खून की कमी से ग्रस्त हैं.

स्पष्ट है कि राष्ट्रीय स्तर पर पोषण पर केंद्रित कार्यक्रमों की घोषित व्यापकता के बावजूद, इन रिपोर्टों ने भारत की बड़ी आबादी के सामने खड़े कुपोषण के खतरे को रेखांकित किया है. जाहिर है कि घोषित नीतियों, कार्यक्रमों एवं जमीनी अमल में गहरा अंतराल दिखाई देता है.

इसका एक प्रमाण देश की आला अदालत द्वारा मई 2016 से पांच बार जारी निर्देश हैं, जिन्हें वह स्वराज्य अभियान की इस संबंध में दायर याचिका को लेकर दे चुका है, जहां उसने खुद भूख और अन्न सुरक्षा के मामले में केंद्र एवं राज्य सरकारों की प्रचंड बेरुखी को लेकर उन्हें बुरी तरह लताड़ा है. नेशनल फूड सिक्योरिटी एक्ट- 2013 को लेकर जितनी राजनीतिक बेरुखी सामने आयी है, इस पर उसने चिंता प्रकट की है.

जुलाई माह के उत्तरार्द्ध में अदालत को बाकायदा कहना पड़ा था कि संसद द्वारा बनाये कानून का क्या उपयोग है, जब राज्य एवं केंद्र सरकारें उसे लागू न करें! अपने सामाजिक न्याय के तकाजों के तहत संसद द्वारा बनाये गये कानून को पूरा सम्मान दिया जाना चाहिए तथा उसे गंभीरता एवं सकारात्मकता के साथ साल के अंदर ही अमल में लाना चाहिए.

देश में गैरबराबरी और भूख

कुछ ही दिन पहले झारखंड के सिमडेगा जिले में संतोषी नाम की बच्ची की भूख से हुई मृत्यु कई बड़े-बड़े राजनीतिक दावों को झूठलाती है. हालांकि, मलेरिया और भूख के कारणों के बीच ही पूरा मुद्दा केंद्रित हो गया. लेकिन, यह बदलते समय में बुनियादी जरूरतों की पहुंच व उपलब्धता पर एक बड़ा सवाल है.

- सिमडेगा झारखंड के दक्षिणी हिस्से में उड़ीसा और छत्तीसगढ़ की सीमा पर जंगलों से घिरा सुदूरवर्ती नक्सल प्रभावित जिला है.
- जलडेगा प्रखंड के जिस गांव की यह घटना है, उसकी दूरी जिला मुख्यालय से 50 किमी से भी ज्यादा है. यह दूरी इस घटना के लिए इसलिए भी मायने रखती है कि आधार कार्ड के लिंक न होने की वजह से पीड़ित परिवार को राशन न देने की बात डिजिटल समय में नेटवर्क के इस्तेमाल और उसकी उपलब्धता के मामले में प्रशासनिक नासमझी का बड़ा उदाहरण है.
- पीड़ित परिवार को पहले सरकारी राशन मिलता था, लेकिन जब राशन के लिए आधार कार्ड अनिवार्य कर दिया गया, तो वह परिवार राशन से वंचित हो गया. झारखंड के ऐसे लाखों परिवार आधार लिंक न होने की वजह से राशन आपूर्ति से वंचित हो गये थे.

Rules are important or Human life?

जमीनी हकीकत यह है कि सुदूरवर्ती जंगली क्षेत्रों को भी राजधानी के चकाचौंध वाले नियमों से चलना पड़ता है. जलडेगा जैसे गांव 'डिजिटल इंडिया' के नारे के लिए मजाक हैं. यहां सामान्य नेटवर्क और बिजली मिल

जाये, यही बड़ी उपलब्धि होगी. यहां की जनता रोज 'डिजिटल इंडिया' की जिद के सामने प्रखंड कार्यालय और बैंक से खाली हाथ जंगली पगडंडियों में लौटने के लिए विवश होती है. ऐसे में अधिकारियों की यह जिद कि बिना आधार कार्ड के लिंक के राशन नहीं दिया जायेगा, घोर संवेदनहीनता तो है ही, यह उनकी जमीनी नासमझी भी है. जबकि, सुप्रीम कोर्ट का निर्देश है कि आधार कार्ड न होने की वजह से कोई सरकारी लाभ से वंचित नहीं किया जा सकता है.

- विश्व खाद्य दिवस के आस-पास घटित यह घटना सवाल खड़ी करती है कि क्या सच में हम गरीब हैं? या सरकार की नीतियां हमें गरीब बनाती हैं और हमें भूखों मरने के लिए विवश करती हैं?
- अभी तत्काल ही जारी 'ग्लोबल हंगर इंडेक्स 2017' के अनुसार, 119 देशों की सूची में भारत का स्थान 100वां है. पिछले वर्ष की तुलना में भारत की यह रैंकिंग और गिरी है. यानी भारत विश्व के सबसे भूखे टॉप-10 देशों की सूची में शामिल है.

Hunger Problem in India?

- भारत सरकार की एजेंसी राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वे के ताजा आंकड़ों के अनुसार, देश के 93 लाख से ज्यादा बच्चे गंभीर रूप से कुपोषण के शिकार हैं.
- संयुक्त राष्ट्र की रिपोर्ट कहती है कि खाद्यान्न उत्पादन में आत्मनिर्भर होने के बावजूद भारत में दुनिया के भूखे लोगों की 23 फीसदी आबादी बसती है.
- हमारे देश में खाद्यान्न उत्पादन की स्थिति बेहतर तो है, लेकिन इसके रख-रखाव की स्थिति दयनीय है. प्रत्येक वर्ष लाखों टन आनाज भंडारण की सुविधा न होने की वजह से बर्बाद हो जाते हैं. अनाज की बर्बादी पर सुप्रीम कोर्ट ने सरकारों को फटकार लगाते हुए कहा भी है कि अन्न सड़ने से बेहतर है कि गरीबों में बांट दिये जायें. इसके बावजूद न ही राजनेताओं को और न ही ब्यूरोक्रेसी को कोई हवा लगती है.

Digitisation & Social Revolution

- एक ओर हम तेजी से डिजिटलीकरण की दिशा में बढ़ रहे हैं, वहीं दूसरी ओर ग्लोबल हंगर इंडेक्स की रिपोर्ट बताती है कि हम भूख के आंकड़ों में तेजी से नीचे गिरते जा रहे हैं. यह अजीब विडंबना है. हमारी बुनियादी जरूरत है- रोटी, कपड़ा, मकान, स्वास्थ्य, शिक्षा इत्यादि. आज भी आम जनता इससे वंचित है. लेकिन, इनको उपलब्ध कराने के बजाय देश की राजनीति जिस कथित 'विकास' के जुमलों पर टिकी हुई है, उसका कोई ओर-छोर दिखायी नहीं दे रहा है.
- आज मेट्रो सिटी, बड़े शहर, कस्बों और सुदूरवर्ती ग्रामीण क्षेत्रों के बीच का भेद बढ़ता जा रहा है. यह भेद हमारी बुनियादी जरूरतों और जीवनशैली का भेद तो है ही, अब यह सामान्य नेटवर्क, 2जी, 3जी, 4जी और नेक्स्ट जेनेरेशन के भेद के साथ डिजिटलाइज्ड हो गया है.
- आजकल सरकारी योजनाओं, बैंकिंग की सेवाओं, सामान्य से सामान्य प्रवेश परीक्षाओं एवं प्रतियोगिता परीक्षाओं के ऑनलाइन होने और उसका कोई ऑफलाइन विकल्प नहीं होने से सुदूरवर्ती क्षेत्रों में नयी समस्या खड़ी हुई है. सुदूरवर्ती इलाकों में अब भी नेटवर्क की उपलब्धता नहीं है. यह सिर्फ आधार कार्ड के बनने या लिंक होने का मामला नहीं है. कंप्यूटर और साइबर के इस्तेमाल को लेकर भी है. क्या यह बात भी चिंता के केंद्र में आयेगी कि इंटरनेट की सर्फिंग स्पीड और प्रशासन की वर्किंग स्पीड का तालमेल कैसे बनेगा?

आमतौर पर ऐसी घटनाओं को कभी-कभार होनेवाली घटना मानकर उसे नजरंदाज करने की कोशिश होती है. संतोषी कुमारी की मृत्यु भूख से हुई है, बीमारी से हुई है, अशिक्षा से हुई है, गरीबी से हुई है. डिजिटल इंडिया के शोर से बुनियादी समस्याएं नहीं दबायी जा सकती हैं.

यह बात समाज को स्वीकार करना चाहिए और उसे अपनी सरकारों से, अपने प्रतिनिधियों से, नौकरशाहों से और खुद से सवाल करना चाहिए. दुनिया के अमीरों की सूची में बढ़ते भारतीय अमीरों की उछाल के बीच में हमें यह कहने का साहस रखना चाहिए कि हमारा देश न तो अमीरों की ऐशगाह है, और न ही गरीबों की कब्रगाह.

वैश्विक लैंगिक असमानता और भारत

भारत महिला और पुरुष के बीच भेदभाव को मिटाने के मामले में चीन और बांग्लादेश जैसे अपने पड़ोसी मुल्कों से पीछे है.

- विश्व आर्थिक मंच द्वारा जारी वैश्विक लैंगिक असमानता सूचकांक में भारत को 108वां स्थान मिला जो पिछले साल से 21 पायदान नीचे है.
- पिछले साल भारत को 87वां स्थान मिला था. भारत की रैंकिंग में इस गिरावट की प्रमुख वजह अर्थ व्यवस्था में महिलाओं की कमजोर भागीदारी और कम मजदूरी भुगतान है.
- वैश्विक लैंगिक असमानता रिपोर्ट के तहत स्वास्थ्य, शिक्षा, अर्थव्यवस्था और राजनीति के क्षेत्र में महिला और पुरुष के बीच भेदभाव मिटाने में मिली सफलता का आकलन किया जाता है.
- इसमें 144 देश शामिल होते हैं. 2017 की रिपोर्ट के मुताबिक भारत लैंगिक भेदभाव को 67 फीसदी तक दूर करने में सफल रहा है. लेकिन वह बांग्लादेश जैसे अपने पड़ोसियों से काफी पीछे है. उसे इस सूचकांक में 47वां स्थान मिला है. वहीं, चीन 100वें स्थान पर है.

भारत के सामने सबसे बड़ी चुनौती महिलाओं की आर्थिक भागीदारी और भुगतान का कमजोर होना है. इस क्षेत्र में उसे 139वां स्थान मिला है. रिपोर्ट के मुताबिक भारत में 12 फीसदी पुरुषों की तुलना में 66 फीसदी महिलाओं को बगैर भुगतान के काम करना पड़ता है. हालांकि, भारत में स्वास्थ्य के मोर्चे पर महिला-पुरुष के बीच सबसे ज्यादा असमानता है. इसमें 141वां स्थान मिला है यानि वह इस मामले में दुनिया का चौथा सबसे कमजोर देश है.

गरीबी से पिछड़ता भारत का विकास

गरीबी रेखा को ऊपर-नीचे करके आजादी से लेकर अब तक गरीबों की संख्या भले ही घटाई- बढ़ाई जाती रही हो, लेकिन गरीबी की रेखा न घटी और न ही गरीब-अमीर के बीच की खाई कम हुई। संसाधनों की प्रचुरता के बावजूद गरीबी के आंकड़ों में हो रही निरंतर वृद्धि सोचने को मजबूर करती है कि आखिर क्या वजह है कि एक तरफ करोड़पति अमीरों की संख्या बढ़ती जा रही है, तो दूसरी तरफ, फुटपाथ पर भीख मांग कर गुजारा करने वालों की संख्या में भी वृद्धि हो रही है।

- विश्व बैंक की एक रिपोर्ट के मुताबिक दुनिया में 2013 में गरीबी रेखा के नीचे रहने वालों की संख्या सबसे अधिक भारत में थी।

- रिपोर्ट में कहा गया है कि उस साल भारत की तीस प्रतिशत आबादी की औसत दैनिक आय 1.90 डॉलर से कम थी और दुनिया के एक तिहाई गरीब भारत में थे।
- आज भी इस स्थिति में कोई खास बदलाव नहीं आया है। 'पॉवर्टी एंड शेयर प्रॉस्पेक्टि' (गरीबी और साझा समृद्धि) शीर्षक से जारी रिपोर्ट में कहा गया है कि वैश्विक अर्थव्यवस्था की वृद्धि क्षमता से नीचे चल रहे होने के बावजूद पूरी दुनिया में गरीबी की दर में गिरावट तो आई है लेकिन जिस अनुपात में अमीरों की आय बढ़ी है उस अनुपात में यह गिरावट बहुत मामूली है।
- 2013 में जारी आंकड़ों के मुताबिक पूरी दुनिया में गरीबों की संख्या करीब 80 करोड़ में भारत में गरीबी रेखा के अंतरराष्ट्रीय मानक से नीचे जीवनयापन कर रहे लोगों की संख्या 22.7 करोड़ है।
- माइक्रोसॉफ्ट के संस्थापक बिल गेट्स ने कभी कहा था कि 'गरीबी में जन्म लेना गुनाह नहीं है, गरीबी में मर जाना गुनाह के समान है।' एक क्षण के लिए यदि इस कथन को सही भी मान लिया जाए तो प्रश्न उठना लाजमी है कि इस गुनाह के लिए आखिर जिम्मेवार किसे माना जाए। उस गरीब को, जो तमाम प्रयासों के बावजूद गरीबी से उबरने योग्य अर्थोपार्जन नहीं कर पाया, या उस सरकार को, जो संसाधनों की प्रचुरता के बावजूद उसके लिए नौकरी-धंधे का बंदोबस्त नहीं कर पाई? क्योंकि बिल गेट्स से काफी पहले, गरीबी के कारण कर्ज में डूबे किसानों के बारे में भारत के अर्थशास्त्री कह चुके हैं कि भारत का किसान कर्ज में जन्म लेता है, कर्ज में ही बड़ा होता है और कर्ज में ही मर जाता है। यही स्थिति गरीबों की है।

Is Government schemes Working:

निश्चित ही गरीबों की स्थिति में बदलाव के लिए सरकार द्वारा किए जा रहे प्रयासों का असर भी हो रहा है।

- विश्व सामाजिक सुरक्षा के तहत रोजगार प्रदान करने में विश्व बैंक ने मनरेगा को पहले स्थान पर माना है।
- रिपोर्ट में कहा गया है कि इससे भारत के पंद्रह करोड़ लोगों को रोजगार मिल रहा है। इसी तरह मध्याह्न भोजन (मिड-डे मील) योजना को भी सबसे बड़ा विद्यालयी कार्यक्रम कहते हुए इसकी सराहना की गई है। इससे 10.5 करोड़ बच्चे लाभान्वित हो रहे हैं। लेकिन यह तस्वीर का सिर्फ एक पहलू है।

What is the other side of story?

- वास्तविकता यह भी है कि मिड-डे मील योजना और मनरेगा भ्रष्टाचार की शिकार रही हैं।
- देश में जहां एक तरफ स्मार्ट सिटी और डिजिटलाइजेशन की बात हो रही है, वहीं करीब सत्ताईस करोड़ लोग गरीबी रेखा के नीचे गुजर-बसर कर रहे हैं।
- गरीबी एक ऐसा कुचक्र है जिसमें उलझा व्यक्तिचाह कर भी उससे निकल नहीं पाता है। अंततः गरीब को गरीब बनाए रखने के लिए गरीबी ही जिम्मेवार होती है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री रेगनर नर्कसे ने कहा है कि 'कोई व्यक्ति गरीब है, क्योंकि वह गरीब है। यानी वह गरीब है इसलिए ठीक से भोजन नहीं कर पाता, जिससे उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता, जिससे वह कुपोषण का शिकार रहता है। परिणामस्वरूप वह ठीक तरह से काम नहीं कर पाता है।

नतीजतन वह गरीब ही बना रहता है। इस तरह गरीबी का दुश्क्र अंत तक उसका पीछा नहीं छोड़ता है।' योजनाएं बना देना और समिति गठित कर देना एक बात है और उनका सही क्रियान्वयन दूसरी बात। क्या सरकार वाकई गरीबी कम करने के लिए प्रतिबद्ध है? सरकार द्वारा जारी आंकड़े तो कुछ और ही कहानी

बयान कर रहे हैं। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (एनएसएसओ) की रिपोर्ट के मुताबिक 1999-2000 में निर्धनता का प्रतिशत 26.1 था, जो 2004-05 में घट कर 21.8 प्रतिशत रह गया था। लेकिन 2008 में सरकार द्वारा गठित तेंदुलकर समिति ने माना कि निर्धनता का प्रतिशत 37.2 था। यूपीए-2 सरकार के समय, 2013 में, एनएसएसओ के अनुमान पर योजना आयोग ने शहरी इलाकों में 28.65 रुपए और ग्रामीण इलाकों में 22.42 रुपए रोजाना कमाने वाले को गरीबी रेखा के नीचे रखा था। इस पैमाने को लेकर मुख्य विपक्षी दल के नाते तब भाजपा ने खूब बवाल मचाया था। लेकिन 2014 में भाजपा के सत्ता में आने के कुछ महीने बाद योजना आयोग ने 32 रुपए ग्रामीण और 47 रुपए शहरी इलाकों में दैनिक खर्च का पैमाना तय किया। यह भी किसी मजाक से कम नहीं है।

Need localised Policies:

वर्तमान महंगाई के दौर में ये आंकड़े गरीब के जले पर नमक छिड़कने से कम नहीं हैं। इस आंकड़े को ही पैमाना मान कर गणना की जाए तो आज भारत में गरीबी की रेखा के नीचे जीवनयापन करने वालों की संख्या 37 करोड़ से ज्यादा है। विकासशील देशों की बात तो छोड़िए, भारत की हालत तो अफ्रीका के कई दुर्दशाग्रस्त देशों से भी खराब है। लोगों के हाथों में मोबाइल, कंप्यूटर और सड़कों पर गाड़ियों की संख्या देख कर देश की स्थिति का आकलन करने वालों को समझना चाहिए कि दुनिया बिल्कुल वैसी नहीं है जैसी टीवी के रंगीन परदे पर दिखाई देती है। कभी-कभार खबर बनकर सामने आने वाली कुछ घटनाएं गरीबी के भयावह मंजर से रूबरू करा देती हैं। जैसे हाल में एक गरीब बारह किलोमीटर तक अपनी पत्नी की लाश को कंधे पर ढोने को मजबूर हुआ, तो दूसरे को कूड़े के ढेर में आग लगा कर लाश का क्रियाकर्म करना पड़ा।

आर्थिक विकास दर (जीडीपी) को अब खुशहाली का पैमाना नहीं माना जा सकता। जहां एक ओर नेता, अफसर, व्यापारी, धर्म के ध्वजवाहक ठाठ की जिंदगी बसर कर रहे हैं, वहीं दूसरी ओर गांव, कस्बे, पहाड़ी व रेगिस्तानी इलाकों और झुग्गी-झोपड़ी तथा तंग गलियों में रहने वाले लोग जानवरों से भी बदतर जिंदगी जीने को मजबूर हैं। उनके पास न तन ढंकने को कपड़ा है, न पेट भरने को भोजन और सिर पर छत का तो सवाल ही नहीं। भारत को बाजार आधारित खुली अर्थव्यवस्था बने पच्चीस साल से अधिक का समय हो चुका है। इसके बाद भी देश की एक चौथाई आबादी गरीब है, तो प्रश्न उठेगा ही कि आखिर क्या किया हमने इतने सालों में? जबकि इस दौरान भारत की विकास दर अच्छी-खासी रही। राज्यों की दृष्टि से देखें, तो छत्तीसगढ़ सबसे गरीब राज्य है, जहां ग्रामीण गरीबी 44.6 प्रतिशत है। केंद्रशासित प्रदेशों में दादर एवं नगर हवेली सबसे गरीब है जहां 62.9 प्रतिशत गरीबी है। भूखे को रोटी देना जितना जरूरी है, उससे कहीं अधिक जरूरी उसे कमाने लायक बनाना है। आर्थिक सर्वेक्षणों के नतीजों से स्पष्ट हो गया है कि अब तक की सारी गणनाओं में गरीबी की जो स्थिति बताई जाती है वह वास्तविकता से कम है। भारत में ज्यादातर गरीब लोग (करीब साठ प्रतिशत) बिहार, झारखंड, ओडिशा, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, उत्तर प्रदेश और उत्तराखंड में रहते हैं। लिहाजा, इन राज्यों के मद्देनजर कुछ विशेष योजनाएं बननी चाहिए।

HEALTH

1. बोझ बना स्वास्थ्य ढांचा

हाल में सामने आई विश्व बैंक और विश्व स्वास्थ्य संगठन की ट्रैकिंग युनिवर्सल हेल्थ कवरेज नामक रिपोर्ट यह बताती है कि भारत समेत विश्व के अधिकांश देशों की एक बड़ी आबादी इसलिए कर्जदार होकर गरीबी रेखा

के नीचे पहुंच जा रही है, क्योंकि बीमारी की हालत में वह अपनी जेब से इलाज खर्च वहन करने को विवश होती है। यह रिपोर्ट नीति-नियंताओं की आंखें खोलने वाली है, क्योंकि लोगों को बेहतर स्वास्थ्य सुविधाएं उपलब्ध कराना शासन में बैठे लोगों का बुनियादी दायित्व है। दुर्भाग्य से भारत की गिनती उन देशों में होती है जहां सरकारी स्वास्थ्य ढांचा दयनीय दशा में है और निजी क्षेत्र के स्वास्थ्य ढांचे का खर्च आम लोगों के बूते के बाहर है।

- इसी कारण संयुक्त राष्ट्र का मानव विकास सूचकांक यह दर्शाता है कि स्वास्थ्य सेवाओं के मामले में भारत का स्थान कई अफ्रीकी देशों से भी पीछे है। इसमें कोई दोराय नहीं कि आजादी के बाद जिस स्वास्थ्य ढांचे का निर्माण किया गया वह अब और अधिक अपर्याप्त नजर आने लगा है।
- बीते चार दशकों में मेडिकल साइंस ने बहुत तरक्की की है। नई तकनीक, अधिक असरकारी दवाओं और आधुनिक उपकरणों के चलते चिकित्सक उन अनेक बीमारियों पर काबू पाने में समर्थ हैं जो कुछ समय पहले तक लाइलाज मानी जाती थीं। इन बीमारियों का उपचार इसलिए आसान हुआ है, क्योंकि रोगों की सही पहचान के लिए तमाम मशीनें इस्तेमाल होने लगी है। इसी के साथ नई-नई दवाओं की खोज के चलते यह माना जाने लगा है कि चिकित्सा जगत एड्स सरीखे रोगों का भी निदान खोजने में समर्थ होगा। विडंबना यह है कि जैसे-जैसे बीमारियों के निदान में उपकरणों और प्रभावी दवाओं की भूमिका बढ़ रही है वैसे-वैसे इलाज महंगा भी होता जा रहा है।

Public hospital in dilapidated condition & Private out of reach

हर कोई अपना अथवा अपने परिजनों का बेहतर इलाज कराना चाहता है, लेकिन जहां सरकारी अस्पतालों की अव्यवस्था और उचित इलाज के अभाव की शिकायतें उन्हें हतोत्साहित करती हैं वहीं निजी अस्पतालों का महंगा इलाज उन्हें डराता है। कई निजी अस्पतालों का इलाज तो इतना महंगा है कि वहां चंद दिनों का उपचार लोगों की कमर तोड़ देता है। ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि डॉक्टर बेहतर इलाज के जरिये मरीज को बचा लेने की उम्मीद जगाते हैं। इस उम्मीद में लोग अपने परिजन को बचाने के लिए कुछ भी करने और यहां तक कि जेवर-जमीन बेचने तक को तैयार हो जाते हैं। एक ओर आम लोग ऐसा करने को विवश हैं वहीं दूसरी ओर निजी अस्पताल लापरवाही और लूट-खसोट का परिचय देते दिख रहे हैं।

Not just high expenditure but utter neglect

बीते दिनों दिल्ली के एक निजी अस्पताल ने नवजात जुड़वां बच्चों को मृत करार दिया, जबकि उनमें से एक जीवित था। इसके पहले गुरुग्राम के एक निजी अस्पताल ने डेंगू के इलाज के नाम पर 16 लाख का बिल बना दिया और मरीज को बचा भी नहीं सका। इस अस्पताल ने दवाओं और मेडिकल सामग्री के आठ-दस गुना दाम वसूले और फिर भी इस आधार पर खुद को सही ठहरा रहा कि उसने तो एमआरपी के हिसाब से ही पैसे लिए। निजी अस्पतालों का ऐसा रवैया मेडिकल पेशे के साथ-साथ मानवता के भी खिलाफ है।

Hospital not life saver but becoming Business houses

हर कोई यह जानता है कि जीवन-मौत मनुष्य के हाथ नहीं है, फिर भी वे डॉक्टरों पर भरोसा करते हैं और उन्हें भगवान समान मानते हैं, लेकिन आज इन्हीं डॉक्टरों का एक वर्ग पैसा कमाने को सबसे ज्यादा महत्व देता दिख रहा है। एक बड़ी संख्या में निजी अस्पताल मनमाने पैसे वसूल करने के लिए कुख्यात हो रहे हैं।

चूंकि सरकारी स्वास्थ्य ढांचा चरमरा रहा है इसलिए निजी अस्पताल की सेवाएं लेना मजबूरी बन गई है। यह सही है कि निजी अस्पताल आधुनिक उपकरणों के साथ बेहतर डॉक्टरों और सुविधाओं से लैस है, लेकिन उनमें सेवाभाव की कमी भी देखने में आ रही है। ऐसा लगता है कि वे कम समय में अधिक मुनाफा कमाने की होड़ में शामिल हो गए हैं। समझना कठिन है कि वह शपथ निष्प्रभावी क्यों हो रही है जो डॉक्टर लेते हैं? निःसंदेह निजी अस्पताल चलाने वाले डॉक्टरों से यह अपेक्षा नहीं की जाती और न ही करनी चाहिए कि वे सेवाभाव के आगे यह भूल जाएं कि उन्हें मुनाफा हो रहा है या नहीं, लेकिन कम से कम यह तो नहीं होना चाहिए कि पांच रुपये वाली डिस्पोजल सीरिज के दो सौ रुपये वसूल किए जाएं। निजी अस्पतालों को लेकर ऐसी शिकायतें बढ़ रही हैं कि वे बिल बढ़ाने के लिए अनावश्यक जांच कराते हैं और साधारण बीमारी को भी गंभीर बताते हैं। अब तो ऐसी शिकायतें भी आने लगी हैं कि मरीज की मौत के बाद भी उसे वेंटीलेटर में रखकर जीवित बताया जाता है। महंगी दवाएं भी एक बड़ी समस्या हैं और इसकी जड़ में दवा कंपनियां भी हैं। वे डॉक्टरों को महंगे उपहार देकर अपनी महंगी दवाएं उपयोग में लाने के लिए कहते हैं। इसी कारण दो रुपये की लागत वाली दवा कई बार मेडिकल स्टोर में बीस रुपये में मिलती है। एमआरपी के चलते यह गोरखधंधा बेरोक-टोक चल रहा है।

Need effective regulation

ऐसा नहीं है कि विश्व के सभी देशों में एक जैसी स्थिति है। कुछ देशों ने नियम-कानूनों और प्रभावी नियमन के जरिये स्वास्थ्य ढांचे को आम आदमी के वहन कर सकने लायक बनाया है, लेकिन ऐसे देश गिनती लायक ही हैं। बेहतर स्वास्थ्य ढांचे के निर्माण के लिहाज से भारत की स्थिति गई-बीती है। हमारे यहां स्वास्थ्य केंद्र एवं राज्य, दोनों का विषय है। केंद्र सरकार नीतियां बनाने का काम करने के साथ चंद अस्पतालों का निर्माण करने तक सीमित है। स्वास्थ्य ढांचे में सुधार के मामले में ज्यादा जिम्मेदारी राज्यों की है। वे अपने दायित्वों के निर्वहन के प्रति सजग नहीं। स्थिति इतनी खराब है कि जरूरत भर के डॉक्टर भी तैयार नहीं हो पा रहे और जो तैयार भी होते हैं वे छोटे सरकारी अस्पतालों में सेवाएं देने के लिए सहमत नहीं होते। एक अन्य समस्या मेडिकल शिक्षा तंत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार है। एमबीबीएस करने वाले तमाम छात्र पीजी की पढ़ाई के लिए रिश्वत देने को विवश हैं।

यह अच्छी बात है कि सरकार ने मेडिकल शिक्षा और साथ ही स्वास्थ्य क्षेत्र की खराब हालत को समझते हुए मेडिकल काउंसिल ऑफ इंडिया यानी एमसीआइ को खत्म करने और उसके स्थान पर नेशनल मेडिकल कमीशन बनाने का फैसला किया। एमसीआइ एक भ्रष्ट संस्था के तौर पर उभर आई थी। उस पर पैसे लेकर मेडिकल कॉलेजों को मान्यता देने और साथ ही अपात्र मेडिकल कॉलेजों को हरी झंडी देने के गंभीर आरोप लगे। प्रस्तावित नेशनल मेडिकल कमीशन पर एक महती जिम्मेदारी है। उसे सरकार के साथ-साथ देशवासियों की उम्मीदों पर भी खरा उतरना होगा। अब जब मोदी सरकार एमसीआइ की जगह नेशनल मेडिकल कमीशन बनाने जा रही है तब उसे यह भी ध्यान रखना होगा कि स्वास्थ्य पर खर्च बढ़ाने की भी सख्त जरूरत है। यह आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है कि सरकार जीडीपी का 2.5 प्रतिशत स्वास्थ्य पर खर्च करने की अपनी घोषणा पर अमल करे। इसी के साथ राज्य सरकारें भी यह समझें कि मेडिकल शिक्षा और स्वास्थ्य ढांचे को सुधारने के मामले में उन्हें भी वैसी ही प्रतिबद्धता प्रदर्शित करने की जरूरत है जैसी केंद्र सरकार प्रदर्शित कर रही है।

2. राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति, 2017

राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति, 2017 की प्रक्रिया में विविध हितधारकों के साथ विस्तृत विचार विमर्श, क्षेत्रीय परामर्श, स्वास्थ्य और परिवार कल्याण को केंद्रीय परिषद और मंत्रियों के समूह के अनुमोदन की आवश्यकता पर बल दिया गया है। नीति में 2025 तक जन स्वास्थ्य व्यय को उल्लरोत्तर जीडीपी के 2.5% तक बढ़ाने की परिकल्पना की गई है। राज्य सरकारों से स्वास्थ्य के लिए उनके बजट परिव्यय को बढ़ाने का भी अनुरोध किया गया है। राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति, 2017 को लागू करने के लिए एक प्रारूप क्रियान्वयन ढांचा भी तैयार किया गया है। सरकार ने स्वास्थ्य नीति को लागू करने हेतु सभी संबंधित प्राधिकारियों से भी अनुरोध किया है।

देश के नागरिकों विशेषकर गरीबों को वहनीय स्वास्थ्य परिचर्या सेवाएं प्रदान करने के लिए सरकार ने अनेक कदम उठाये हैं जिनमें अन्य बातों के साथ-साथ निम्नलिखित शामिल हैं:-

- सरकारी स्वास्थ्य केन्द्रों में अनिवार्य औषधियां और निदान निःशुल्क प्रदान करने के लिए राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन निःशुल्क औषध एवं निःशुल्क नैदानिक पहल का कार्यान्वयन।
- जननी शिशु सुरक्षा कार्यक्रम, राष्ट्रीय बाल स्वास्थ्य कार्यक्रम, राष्ट्रीय किशोर स्वास्थ्य कार्यक्रम का कार्यान्वयन तथा संशोधित राष्ट्रीय क्षयरोग नियंत्रण कार्यक्रम, राष्ट्रीय वेक्टर जनित रोग नियंत्रण कार्यक्रम, राष्ट्रीय कुष्ठ रोग उन्मूलन कार्यक्रम, राष्ट्रीय एड्स नियंत्रण कार्यक्रम जैसे कार्यक्रमों का कार्यान्वयन करना, जहां क्षयरोगियों, एचआईवी, वेक्टर जनित रोगों के रोगियों को निःशुल्क उपचार प्रदान किया जाए।
- व्यापक प्राथमिक परिचर्या प्रदानगी तथा प्रचारात्मक व स्वास्थ्य संवर्धन कार्यक्रमलाप करने के लिए उप-स्वास्थ्य केन्द्र/पीएचसी को स्वास्थ्य एवं आरोग्य केन्द्रों में बदलने का निर्णय।
- उच्च रक्त चाप, मधुमेह तथा मुख, गर्भाशय व स्तन कैंसर के 5 सामान्य गैर संचारी रोगों की जांच व प्रबंधन।
- जिला अस्पतालों में गरीबों के लिए निःशुल्क डायलिसिस सेवाओं हेतु प्रधानमंत्री राष्ट्रीय डायलिसिस कार्यक्रम।
- अस्पतालों के सुदृढीकरण, राज्यों में एम्स संस्थाओं की स्थापना और पूरे देश में मौजूदा सरकारी चिकित्सा कॉलेजों के उन्नयन के जरिए सरकारी क्षेत्र में तृतीयक स्वास्थ्य परिचर्या सेवाएं उपलब्ध करवाना।
- राज्य सरकारों के सहयोग से “जन औषधि स्कीम” के अंतर्गत सभी के लिए वहनीय मूल्यों पर गुणवत्ता युक्त जेनेरिक दवाइयां उपलब्ध करवाना।
- राष्ट्रीय स्वास्थ्य बीमा योजना, जिसमें परिवार फ्लोटर आधार पर स्मार्ट कार्ड आधारित नकद रहित स्वास्थ्य बीमा प्रदान किया जाता है।

3. इलेक्ट्रॉनिक स्वास्थ्य रिकॉर्ड

- स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय ने विभिन्न स्वास्थ्य सूचना प्रौद्योगिकी प्रणालियों में स्वास्थ्य परिचर्या सूचना के संग्रहण, भंडारण, संचरण, उपयोग आदि में मानकीकरण और एकरूपता, अंतर प्रचालनात्मकता लाने की मंशा से दिसंबर, 2016 (जबकि ईएचआर मानकों का पूर्ववर्ती संस्करण सितंबर, 2013 में अधिसूचित किया गया था) में भारत के लिए इलेक्ट्रॉनिक स्वास्थ्य रिकॉर्ड (electronic health record) मानक संस्करण, 2016 अधिसूचित किए हैं।

- इन मानकों को अपनाए जाने के लिए स्वास्थ्य सेवा प्रदायकों तथा अन्य हितधारकों के साथ मिलकर प्रयास किए जा रहे हैं। सभी राज्यों/संघ राज्य क्षेत्र सरकारों को राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन की सहायता से स्वास्थ्य परिचर्या के सभी सूचना प्रौद्योगिकी एप्लीकेशन्स में ईएचआर मानकों को अपनाए जाने की सलाह भी दी गई है
- पूरे देश में अंतर प्रचालनात्मक तरीके से नागरिकों की ईएचआर की संकल्पित प्रणाली शुरू होने से ऑनलाइन उपलब्धता और सुलभता सुनिश्चित की जाएगी।
- इससे परिचर्या की निरंतरता, बेहतर स्वास्थ्य परिणाम और बेहतर निर्णय सहायक प्रणाली को सुविधाजनक बनाया जाएगा और इससे परिहार्य आवर्ती तथा ऐसीही नैदानिक जांचों पर होने वाले व्यय में कमी लाने में सहायता मिलने की आशा है।

4. राष्ट्रीय चिकित्सा आयोग (एनएमसी) विधेयक

राष्ट्रीय चिकित्सा आयोग (एनएमसी) विधेयक अब संसद की स्थायी समिति को भेजा जा चुका है। विधेयक को स्थायी समिति के पास भेजने का फैसला असल में भारतीय चिकित्सा संघ (आईएमए) की तरफ से दी गई देशव्यापी हड़ताल की धमकी को देखते हुए किया गया है। करीब तीन लाख डॉक्टरों के संगठन आईएमए को आशंका है कि चिकित्सा क्षेत्र के नियामक की भूमिका भारतीय चिकित्सा परिषद (एमसीआई) की जगह एनएमसी को सौंपने से निर्मम व्यवस्था शुरू हो जाएगी। हालांकि अपनी छवि सुधारने को लेकर बेफिक्र पेशे की चिंताओं को तो नजरअंदाज किया जा सकता है लेकिन यह चिंता जरूर है कि क्या भ्रष्टाचार से पस्त स्वास्थ्य क्षेत्र की हालत सुधारने के लिए विधेयक में रचनात्मक प्रावधान किए गए हैं? वैसे विधेयक में इसे स्वीकार किया गया है कि एमसीआई के तहत बनी स्व-नियमन प्रणाली चिकित्सा व्यवसाय के सभी मोर्चों पर नाकाम रही है।

Health sector

Medical Education: भारत में प्राथमिक एवं तृतीयक स्तर की स्वास्थ्य देखभाल सेवाओं की गुणवत्ता खुद ही अपनी कहानी बयां कर देती है। चिकित्सा की शिक्षा बहुत महंगी है, दुर्लभ है और इसका पाठ्यक्रम भी ऐसा है कि एक पूर्व स्वास्थ्य सचिव ने 'बाजार में डॉक्टरों की भरमार के बावजूद उनके प्रशिक्षण को झोलाछाप डॉक्टरों से थोड़ा ही बेहतर' बताया था। निस्संदेह मेडिकल कॉलेजों के भारी अभाव की स्थिति में नियमन की प्रक्रिया भी भ्रष्टाचार में डूबी रही है।

What bill proposes?

नए विधेयक में इन विसंगतियों को दूर करने के लिए कई प्रावधान किए गए हैं।

- पहला, एनएमसी एक छाते की तरह काम करने वाली नियामकीय संस्था होगी। इसमें केंद्र सरकार 25 सदस्यों की नियुक्ति करेगी जिनमें भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद और स्वास्थ्य सेवा महानिदेशालय के प्रतिनिधि भी होंगे। यह आयोग स्नातक और परास्नातक चिकित्सा शिक्षा का नियंत्रण करने वाले दो निकायों की निगरानी करेगा।
- एक निकाय मेडिकल कॉलेजों में शिक्षा के स्तर पर नजर रखेगा जबकि दूसरा निकाय नीतिगत मसलों एवं पंजीकरण संबंधी मसले देखेगा।
- National medical commission Bill चिकित्सा पाठ्यक्रमों में प्रवेश के लिए होने वाली राष्ट्रीय अर्हता एवं प्रवेश परीक्षा (एनईईटी) का भी नियंत्रण करेगा और प्रैक्टिस करने की मंशा रखने वाले

डॉक्टरों को लाइसेंस देने के लिए एक नई परीक्षा का भी आयोजन करेगा। इस विस्तृत ढांचे में अलग निकायों को शक्तियां दी गई हैं और भ्रष्टाचार पर लगाम लगाने के लिए कई स्तरों पर नियंत्रण एवं संतुलन भी किया गया है।

Analysis?

सवाल यह है कि क्या विधेयक भारत में स्वास्थ्य क्षेत्र की बड़ी खामियों पर काबू पाने में कामयाब हो पाएगा?

- अनुभव तो यही कहता है कि नियामकीय संस्थाओं में सरकार की तरफ से की जाने वाली नियुक्तियां हमेशा बेहतर नियमन ही नहीं देती हैं
- ऐसे में स्थायी समिति एनएमसी को अधिक चाक-चौबंद करने के तरीके तलाशें ताकि जान-पहचान के आधार पर होने वाली नियुक्तियों से बचा जा सके। इसके अलावा एनएमसी को मिले 'छाता' दर्जे के चलते बड़े बदलाव कर पाने की उसकी शक्तियों पर भी संदेह होता है।
- विधेयक के मुताबिक राज्यों को अपने यहां तीन साल के भीतर चिकित्सा परिषदों का गठन करना होगा। यह प्रावधान एक तरह से राज्यों को जिम्मेदारियों से राहत ही देता है।
- चिंता की सबसे बड़ी बात वह सुझाव है जिसमें होम्योपैथिक और आयुर्वेदिक डॉक्टरों को भी 'ब्रिज कोर्स' करने के बाद एलोपैथिक दवाएं लिखने की इजाजत देने की बात कही गई है। मसौदा समिति ने बड़ी आबादी के अनुपात में डॉक्टरों की कम संख्या को देखते हुए यह सुझाव दिया था लेकिन यह प्रस्ताव विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों में किए गए विभाजन के मूलभूत सिद्धांत को ही नकारता है। जहां चिकित्सा नियामकीय व्यवस्था के कायाकल्प की जरूरत पर सवाल नहीं उठाया जा सकता है, वहीं यह भी सच है कि एक दोषपूर्ण विकल्प केवल बीमारी बढ़ाने का ही काम करेगा।

5. स्वास्थ्य सेवाओं को इलाज की जरूरत

हर साल बजट पेश होने के बाद सार्वजनिक स्वास्थ्य पर होने वाली बहस सिर्फ एक आंकड़े के इर्द-गिर्द सिमट जाती है। दुर्भाग्य से यह आंकड़ा कभी बदलता भी नहीं। तर्क दिए जाते हैं कि स्वास्थ्य क्षेत्र में सार्वजनिक खर्च लगातार कम हो रहा है। यह अब देश की जीडीपी का करीब 1.2 फीसदी हो गया है और कई अन्य विकासशील देशों के मुकाबले भी काफी नीचे है। समझना होगा कि स्वास्थ्य के क्षेत्र में अपेक्षा से कम खर्च होने के नतीजे गंभीर होते हैं। सच तो यह है कि अपने इलाज पर होने वाले कुल खर्च का दो-तिहाई मरीज खुद चुकाता है, और अनुमान है कि इलाज पर खर्च की वजह से ही 6.3 करोड़ लोग हर साल गरीबी रेखा से नीचे जाने को मजबूर हो जाते हैं।

Need urgent reform in Health Sector

भारत में स्वास्थ्य-सेवाओं की गुणवत्ता में फौरी सुधार की दरकार है। 2017 की राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति में तय लक्ष्यों के साथ हमें इस दिशा में संजीदगी से आगे बढ़ना होगा।

- ✓ नई स्वास्थ्य नीति में नीतिगत असमानता और देश में स्वास्थ्य सेवाओं की पहुंच पर खास जोर दिया गया है। समग्र स्वास्थ्य पैकेज की बात कहकर बुनियादी स्वास्थ्य सेवाओं का दायरा बढ़ाने पर भी जोर दिया गया है। हालांकि इसके लिए स्वाभाविक तौर पर स्वास्थ्य क्षेत्र में व्यापक निवेश की दरकार होगी। मगर जब-जब स्वास्थ्य क्षेत्र में खर्च बढ़ाने की बात कही जाती है, तो आवंटित बजट के कम खर्च होने का आईना भी दिखाया जाता है।

- ✓ कैग की हालिया रिपोर्ट बताती है कि प्रजनन व बाल स्वास्थ्य पर राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन (एनएचएम) के तहत आवंटित रकम पूरी तरह खर्च नहीं हो पा रही है। राज्य वर्ष 2011-12 में इस मद के 7,375 करोड़ रुपये खर्च नहीं कर पाए थे, जो 2015-16 में बढ़कर 9,509 करोड़ हो गए
- ✓ Contradiction (Financing and expenditure) : आखिर इस विरोधाभास की वजह क्या है? स्वास्थ्य क्षेत्र को आवंटित बजट भी आखिर खर्च क्यों नहीं हो पाता?
- ✓ सेंटर फॉर पॉलिसी रिसर्च ने इन सवालों के जवाब ढूंढने की कोशिश की। अध्ययन का नतीजा है कि सबसे पहले तो स्वास्थ्य तंत्र को मजबूत बनाने की जरूरत है। खासतौर से इसके दो अंगों मानव संसाधन (एचआर) और योजना व बजट प्रणाली में सुधार की सख्त दरकार है। इसकी ठोस वजहें भी हैं।
- ✓ Rural Health: एचआर स्वास्थ्य क्षेत्र का एक महत्वपूर्ण अंग है। इस पर सार्वजनिक खर्च का 60 से 80 फीसदी हिस्सा खर्च होता है। बावजूद इसके 'रुरल हेल्थ स्टैटिस्टिक्स' के ताजा आंकड़े बताते हैं कि भारत स्वास्थ्य सुविधाओं की भारी कमी और रिक्तियों के दबाव से जूझ रहा है। यह सब तब है, जब राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन के तहत स्वास्थ्य सेवाओं के बुनियादी ढांचे में महत्वपूर्ण सुधार किए गए हैं।
- ✓ बहरहाल, रिक्तियों की वजह से मानव संसाधन बजट का एक बड़ा हिस्सा बिना खर्च हुए पड़ा रह जाता है। महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्ति न होने से जरूरी स्वास्थ्य सेवाओं पर भी खासा नकारात्मक असर पड़ता है।
- ✓ इसी तरह, प्लानिंग व बजट प्रक्रिया का केंद्रीकृत ढांचा स्वास्थ्य कर्मचारियों को बोझिल कागजी कामकाज में उलझा देता है, जबकि वे पहले से ही अत्यधिक बोझ से दबे हुए हैं। राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन में भले ही इसके विकेंद्रीकरण और बजट-उन्मुख प्लानिंग की बजाय नतीजे देने पर जोर दिया गया है, पर हकीकत इससे अलग है। सारे योजनागत कामकाज केंद्रीय ढांचे के दिशा-निर्देशों व प्राथमिकताओं के आधार पर ही किए जाते हैं। इसके कारण खर्च संबंधी फैसले लेने में भी कई तरह के अनुमोदन की जरूरत पड़ती है। फिर राज्य अब यह अपेक्षा करने लगे हैं कि जिला और ब्लॉक को एक रुपया भी खर्च करना है, तो अनुमोदन की सारी कागजी औपचारिकताएं पहले ही पूरी कर लें। स्वाभाविक है, स्वास्थ्य ढांचे का निचला हिस्सा इसके कारण लेखांकन और जवाबदेही का अतिरिक्त दबाव महसूस करने लगा है।
- ✓ जब तस्वीर ऐसी हो, तो कर्मचारियों की कमी से जूझ रहे स्वास्थ्य तंत्र के लिए खुद को नियमित गतिविधियों तक ही समेटकर रखना मुफीद लगता है। रूटीन के ये काम 'फ्रंट लाइन वर्कर' यानी मरीजों से सीधा वास्ता रखने वाले कामगारों को इंसेंटिव देने, कर्मचारियों में वेतन-भत्ते बांटने या संस्थागत प्रसव व नसबंदी के लिए मुआवजा लाभ देना आदि होते हैं। नतीजतन, नवाचार यानी इनोवेशन और प्रशिक्षण जैसे जरूरी काम नजरअंदाज कर दिए जाते हैं। स्वास्थ्य प्रबंधन सूचना प्रणाली की कमजोरी इसकी सेहत को और बिगाड़ रही है। फिलहाल, स्वास्थ्य संबंधी डाटा कई स्रोतों से हासिल किए जाते हैं और सैंपल सर्वे अक्सर संतोषजनक नहीं होते। प्रशासनिक क्षमताओं की सीमाएं डाटा की गुणवत्ता प्रभावित करती हैं। स्वाभाविक तौर पर प्रभावशाली योजना बनाने और उसके क्रियान्वयन पर इसका असर पड़ता है।

What to be done?

ऐसा नहीं है कि सरकार इन तमाम मुश्किलों से बेखबर है। मौजूदा वित्तीय वर्ष में राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन को आवंटित बजट में करीब 20 फीसदी की वृद्धि की गई है। यही नहीं, इस मिशन के तहत स्वास्थ्य प्रणाली को मजबूत बनाने के लिए 52 फीसदी और एचआर के बजट में 168 फीसदी की वृद्धि की गई है। हालांकि स्वास्थ्य सुविधाओं के मामले में मानव संसाधन में वृद्धि इतनी स्पष्ट नहीं दिखती। साल 2015 की संसदीय

स्थाई समिति ने बताया था कि यदि भारत अगले पांच वर्षों तक हर साल 100 नए मेडिकल कॉलेज खोले, तब भी विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा निर्धारित 'एक हजार व्यक्ति पर एक डॉक्टर' के मापदंड को पूरा करने में हमें 2029 तक का इंतजार करना होगा। साफ है, इस परिस्थिति में मौजूदा स्वास्थ्य कर्मचारी का व्यवहार कुशल होना और उनका कुशलतापूर्वक काम करना काफी महत्वपूर्ण हो जाता है। इसी का एक पहलू उन्हें समय पर उचित प्रशिक्षण मुहैया कराना भी है, ताकि यह कार्यबल अधिक कार्यकुशल बन सके। हालांकि इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण एचआर को युक्तिसंगत बनाना माना जाना चाहिए और यदि जरूरी हो, तो प्रशासनिक ढांचे के तमाम लोगों की भूमिका और जिम्मेदारी नए सिरे से तय की जानी चाहिए। हमें प्लानिंग और बजट की तमाम प्रक्रियाओं को फिर से विकेंद्रीकृत करने की दिशा में भी बढ़ना चाहिए। यदि इसे एक समग्र सूचना प्रणाली से जोड़ दिया जाए, तो निश्चय ही फैसले की पारदर्शिता और वित्तीय व व्यवहारगत जवाबदेही को हम लंबे समय तक अक्षुण्ण बनाए रख सकेंगे। सच है कि इन बुनियादी मसलों पर अगर अब भी ध्यान नहीं दिया गया, तो हम सिर्फ मरीज का इलाज कर रहे होंगे, बीमारी का नहीं

6. मोदीकेयर राष्ट्रीय स्वास्थ्य संरक्षण बीमा योजना : विश्व की सबसे बड़ी चिकित्सा बीमा योजना

हेल्थ

- एक परिवार को एक साल में 5 लाख का मेडिकल खर्च दिया जाएगा
- 10 करोड़ गरीब परिवारों को मिलेगा मेडिकल खर्च
- टीबी के मरीज को हर महीने 500 रुपये मिलेंगे
- तीन संसदीय क्षेत्रों को मिलाकर 1 मेडिकल कॉलेज खोला जाएगा
- 1.5 लाख आरोग्य केंद्र बनाए जाएंगे, आयुष्मान भारत योजना शुरू
- देश की 40 फीसदी आबादी को मिलेगा हेल्थ बीमा
- देश भर में 5 लाख स्वास्थ्य सेंटर खोले जाएंगे
- देश में 24 नए मेडिकल कॉलेज खोले जाएंगे

- आम बजट में घोषित विश्व की सबसे बड़ी चिकित्सा बीमा योजना कैशलेस होगी और इसमें इलाज खर्च अपनी तरफ से करने के बाद भुगतान के लिए दावा करने की जरूरत नहीं होगी.
- इसके तहत माध्यमिक और उच्चस्तरीय अस्पतालों में भर्ती के खर्च का बीमा होगा.
- इसमें तमाम सरकारी अस्पताल और चुनिंदा निजी अस्पताल शामिल होंगे.
- यह योजना विश्वास और बीमा के मॉडल पर आधारित है.
- बीमा मॉडल होने से जैसे जैसे बीमाधारकों की संख्या बढ़ेगी, प्रीमियम कम होगा.

शुरुआत :-

- इस योजना की शुरुआत इस साल 2 अक्टूबर से होगी. इसे अगले वित्त वर्ष से लागू किया जाएगा और जरूरत पड़ने पर धन का आवंटन बढ़ाया जाएगा. इन बीमा योजनाओं का प्रीमियम सरकार देगी.

दो हजार करोड़ का बजट

- ✓ दो हजार करोड़ रुपये की शुरुआती राशि का आवंटन किया गया है. योजना के लागू होने के बाद जितनी भी राशि की आवश्यकता होगी, वह दी जाएगी.

केंद्र और राज्य मिलकर उठाएंगे बोझ

- ✓ इस महत्वाकांक्षी बीमा योजना का 60 प्रतिशत खर्च केंद्र और 40 प्रतिशत खर्च राज्य वहन करेंगे.

विस्तार से :

- ✓ इस योजना से देश के 10 करोड़ परिवारों के सेहत को एक सुरक्षा-कवच मिल जाएगा. परिवार का औसत आकार पांच व्यक्तियों का मानें तो स्वास्थ्य संरक्षण योजना से देश के 50 करोड़ लोग अब मान सकते हैं कि अस्पताली उपचार के लिए पांच लाख रुपए का स्वास्थ्य-बीमा कवर देर-सवेर उन्हें मिल ही जाएगा क्योंकि घोषणा हो चुकी है !
- ✓ सामाजिक-आर्थिक और जाति-जनगणना में भारत में परिवारों की कुल संख्या तकरीबन 25 करोड़(24.45 करोड़) बताई गई है तो माना जा सकता है देश के सर्वाधिक गरीबों में शुमार 40 फीसद आबादी को अब रोग के उपचार के लिए पहले की तरह घर-संपत्ति बेचनी या गिरवी नहीं रखनी होगी क्योंकि सरकार इसके लिए 'पर्याप्त धनराशि उपलब्ध' कराएगी.

7. बुनियादी स्वास्थ्य की परवाह जरूरी: Health

इस बार के बजट में धूमधाम से 'आयुष्मान भारत कार्यक्रम के शीर्षक से एक नई राष्ट्रीय स्वास्थ्य योजना की घोषणा की गई, जिसे दुनिया में सबसे बड़ी परिवार स्वास्थ्य बीमा योजना बताया गया। यह आशा भी जाहिर की गई कि अब निजी चिकित्सा क्षेत्र भी इस कल्याणकारी मुहिम से जुड़ेगा। जैसी अपेक्षा थी, सार्वजनिक क्षेत्र में पैर पसारने को आतुर बीमा कंपनियों और निजी क्षेत्र के अस्पताल मालिकों ने यह कहकर इस बीमा योजना का स्वागत किया, कि इससे उनके लिए नए वैलनेसक्लिनिक व अस्पताल बनाना और उनके मार्फत शहरी व गांवों के गरीबों तक बेहतर उपचार सुविधाएं पहुंचाना आसान हो जाएगा।

Analysis of Ayushman

- ✚ अचरज यह कि विपक्ष ही नहीं, सार्वजनिक क्षेत्र के रोग निरोधी दस्तों, चिकित्सकों, जनस्वास्थ्य पर शोध करते रहे संस्थानों और राज्य सरकारों का रवैया आयुष योजना को लेकर ठंडा बना हुआ है। इसकी वजहें हैं। एक तो तमाम प्रचार के बावजूद जनस्वास्थ्य बीमा योजना 2018 कोई नई योजना नहीं ठहरती। यह कुल मिलाकर पुरानी सरकार की 2012 में तथा पिछले साल नई सरकार के द्वारा लाई गई स्वास्थ्य बीमा योजनाओं का ही नया संस्करण है।

- ✚ यह दुनिया की सबसे बड़ी बीमा योजना भी नहीं है। अनुमानित कुल लाभार्थियों की दृष्टि से देश के शत प्रतिशत परिवारों को नियमित तौर से सफलतापूर्वक लाभान्वित करने वाली चीन की सरकारी स्वास्थ्य बीमा योजना इससे बीस ठहरती है। साथ ही जानकारों को यह भी शंका है कि कहीं सरकार धीमे-धीमे खुद जनकल्याणी स्वास्थ्य सेवा से हाथ खींचकर इसे उस निजी चिकित्सा क्षेत्र के हवाले तो नहीं करने जा रही, जो आम जनता की नजरों में कम से कम निवेश द्वारा अधिकाधिक मुनाफा पाने का लक्ष्य ही रखता रहा है?
- ✚ टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज के स्वास्थ्य विशेषज्ञों की पड़ताल बता रही है कि पिछली योजना के तहत सरकार की तरफ से जिन बीमा कंपनियों को भारी राशि उपलब्ध कराई भी गई थी, उन्होंने अब तक अपने धारकों में से 50% से भी कम को भुगतान किया है। गए बरस से हर धारक के लिए राशि क्लेम करने के लिए आधार कार्ड दिखाना अनिवार्य बन गया है, जिससे कई गरीब लाभार्थी (जैसे गरीब अनपढ़ प्रवासी मजदूर या एचआईवी पॉजिटिव लोग) जरूरत होते हुए भी उपचार के लिए इस स्वास्थ्य कल्याण बीमे का फायदा नहीं उठा पाए और यूआईडीएआई को घोषणा करनी पड़ी है कि आधार कार्ड न होने पर किसी को भी राशन या स्वास्थ्य सुविधाओं से वंचित नहीं किया जा सकता। इसमें कोई शक नहीं कि जनकल्याण के लिहाज से किसी भी लोकतंत्र में सरकार द्वारा सभी नागरिकों को जरूरी स्वास्थ्य कल्याण और शिक्षा उपलब्ध करवाने की क्षमता सुशासन का सबसे बड़ा व टिकाऊ पैमाना होता है। लिहाजा उपरोक्त शंका का निराकरण जरूरी है।

जनकल्याण के नाम पर केंद्र सरकार ने स्वास्थ्य बजट में 2.8% की बढ़ोतरी जरूर की है, पर राष्ट्रीय स्वास्थ्य मिशन, एड्स नियंत्रण कार्यक्रमों और नए चिकित्सकीय कॉलेजों की स्थापना का बजट 2.8 से 12.5 प्रतिशत तक काटा गया है। नई योजना पर होने जा रहे कुल खर्च का 40% मुहैया कराने की जिम्मेदारी भी यह कहते हुए राज्य सरकारों पर डाल दी गई है कि स्वास्थ्य राज्यों का विषय है। यानी योजना को लागू करने में जो प्रति परिवार कुल सालाना खर्च (1,082 रुपए) बनेगा, उसमें से राज्य सरकारों को अपनी तरफ से 433 रुपए प्रति परिवार देय होगा। राज्य, खासकर दक्षिण भारत के राज्य इससे कहीं बेहतर बीमा सुरक्षा कवच अपने यहां के धारकों को मुहैया करा रहे हैं और इस योजना के अतिरिक्त व्यय को सिर पर ढोने में कोई रुचि नहीं रखेंगे। उधर बीमा कंपनियों तथा निजी चिकित्सा देने वाले अस्पतालों की खुशी की वजह यह है कि उनको अब केंद्र सरकार की तरफ से वृहत्तर राशि मिल सकेगी और जो निजी अस्पताल सरकारी पैनाल के तहत क्लियरेंस पा जायेंगे, उनको अधिकाधिक मरीज मिलेंगे।

अब सवाल गुणवत्ता का। चूंकि हमारे यहां राज्यस्तर पर निजी चिकित्सा क्षेत्र के लिए जरूरी तादाद में नियामक संस्थाएं या तो हैं ही नहीं या निष्क्रिय हैं, लिहाजा यह असंभव नहीं कि गरीबों को कम दाम पर बेहतरीन उपचार देने के बजाय सरकार से मिली बीमा भुगतान की ऊंची सीलिंग मिली देख निजी चिकित्सालय बेहतर स्वास्थ्य सुविधाएं मुहैया कराने के बजाय लंबे अस्पताली प्रवास, अवांछित सर्जरी या तमाम फालतू किस्म की जांचों से मोटी रकम वसूली की प्रवृत्ति पर ही टिके रहें।

फिर योजना लागू होने की समयसीमा का सवाल भी है। केंद्रीय वित्त सचिव के अनुसार अभी मशवरे का दौर और आखिरी प्रारूप बनना बाकी है। उसके बाद चयनित बीमा कंपनियों को सरकारी नियमों के तहत ठेके देने की प्रक्रिया भी काफी समय लेगी। यानी कुल मिलाकर नई स्वास्थ्य बीमा योजना का जमीनी अवतार बनने में करीब साल भर लगेगा। इस बीच आर्थिक कटौती लागू होने से बुनियादी क्षेत्र की जरूरी स्वास्थ्य संरक्षण और रोगनिरोधी सेवाएं उपेक्षित, कमजोर होती चली जाएंगी, जबकि सारे विशेषज्ञ कह रहे हैं कि विकासशील देशों में उपचार के बजाय रोग निरोध और बुनियादी स्वास्थ्य संरक्षण के क्षेत्रों को बल दिया

जाना अधिक फलदायी साबित होता है। जब कुपोषित महिलाएं, बच्चे बड़ी तादाद में अकाल मर रहे हों, मलेरिया, तपेदिक व संक्रामक रोग प्रदूषित गांवों, शहरों में तेजी से पनप रहे हों, उस समय आकर्षक नाम से, पर बिना समुचित धन जुटाए नई योजना ताबड़तोड़ ले आना समझदार कदम नहीं लगता। बेहतर हो कि जरूरी महिला-बाल स्वास्थ्य कल्याण, परिवार नियोजन, एड्स निरोध तथा रोग निरोध के बुनियादी काम कर रहे सरकारी अस्पतालों, प्राथमिक चिकित्सा केंद्रों को बेहतर बनाने और अधिक मेडिकल कॉलेज खोलने को तवज्जो देना तय किया जाए। इससे एक तरफ मलेरिया, तपेदिक या एड्स सरीखे रोगों की सही समय पर रोकथाम होगी, दूसरी तरफ गरीबों की बढ़ती भीड़ से परेशान सरकारी अस्पतालों को भी बेहतर उपकरण और सुविधाएं मिलेंगी। याद रखें, बाल पोषाहार व सुरक्षित जननी कार्यक्रमों का (वैसे भी नाकाफी) बजट काटने से तो हम आने वाली पीढ़ी को कमजोर बना देंगे, जिसकी भरपाई बाद में नहीं की जा सकेगी। स्वास्थ्य क्षेत्र की इस भारीभरकम जन बीमा योजना के लिए अतिरिक्त खर्च कहां से आएगा? क्या इस महत्वाकांक्षी योजना को आवंटित राशि (48,309 करोड़ रुपए) की बाहर से अतिरिक्त उधारी से साकार किया जाएगा? यदि हां, तो यह खर्चा किस खाते में दर्ज किया जाएगा? इस राशि का बड़ा भाग किसी सार्वजनिक उपक्रम से किसी अन्य नाम तले उधार लेकर सरकार बस अपनी एक जेब का धन दूसरी में डालने तो नहीं जा रही? इन सवालों का माकूल तर्कसंगत जवाब मिलना जरूरी है। लोकतंत्र में कुछ सहज जन-जवाबदेहियां भी बनती हैं।

8. बीमार' विचार: निजी चिकित्सालय जिला चिकित्सालयों के साथ मिलकर स्वास्थ्य सेवाएं

केंद्र सरकार ने एक मसौदा अनुबंध तैयार किया है जिसमें निजी चिकित्सालयों (Private hospitals) के समक्ष प्रस्ताव रखा जाएगा कि वे जिला चिकित्सालयों के साथ मिलकर स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया कराने में सहयोग करें। यह प्रस्ताव नीति आयोग (NITI Ayog) का है। इस मसौदे में स्वास्थ्य मंत्रालय ने भी कुछ शुरुआती मदद की है और इसे राज्य सरकारों के पास भेजा गया है कि वे इसे लेकर अपनी राय व्यक्त करें।

- इस मसौदे में 50 या 100 बिस्तरों वाले अस्पतालों के लिए 30 साल की लीज का प्रावधान है।
- यह लीज दूसरे दर्जे के शहरों में दी जाएगी।
- इन अस्पतालों को जिला अस्पतालों के बेहतर बुनियादी ढांचे का लाभ मिलेगा।
- इसमें रक्त बैंक और एंबुलेंस सेवाएं शामिल हैं।
- इसके अलावा इनको कुछ सार्वजनिक धनराशि भी मिलेगी और सरकारी प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों से सुनिश्चित रेफरल भी।

Health infrastructure in India and Policy?

इस पर कोई सवाल नहीं उठा सकता है कि देश में स्वास्थ्य सुविधा क्षेत्र की हालत निहायत खराब है। शिशु मृत्यु दर और जीवन संभाव्यता जैसे कुछ संकेतकों के मामले में अहम सुधार होने के बावजूद देश के अधिकांश लोगों को मामूली सेवाओं के लिए बहुत अधिक धनराशि चुकानी पड़ती है।

- देश में निम्न मध्यवर्ग के अचानक गरीबी के भंवर में फंस जाने के लिए सबसे अधिक जिम्मेदार इलाज के ऐसे ही खर्चे हैं जो अचानक उनके सिर पर आ जाते हैं।
- सरकार की वर्ष 2015 की राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति में कहा गया है कि वर्ष 2011-12 के दौरान देश में 5.5 करोड़ लोग केवल चिकित्सा संबंधी खर्च के कारण गरीबी के गहरे भंवर में उलझ गए।
- इसमें कुछ भी चकित करने वाला नहीं है क्योंकि स्वास्थ्य पर होने वाले खर्च का दो तिहाई हिस्सा मरीज की जेब से ही आता है।

- यह दुनिया में सबसे अधिक अनुपातों में से एक है। इतना ही नहीं इसमें लगातार इजाफा हो रहा है। वर्ष 2004-05 के 15 फीसदी से बढ़कर वर्ष 2011-12 में 18 फीसदी पर पहुंच गया।

Is this move in right direction?

सरकार ने इस गंभीर संकट से निपटने के लिए जो तरीका चुना है वह कतई गलत है।

- सार्वजनिक खर्च पर स्वास्थ्य सुविधाओं के निजी प्रावधानों ने यही दिखाया है कि यह तरीका कतई कारगर नहीं है।
- इसके पीछे तमाम मजबूत आर्थिक वजह भी हैं।
- इस क्षेत्र में गुणवत्ता सुनिश्चित करने संबंधी निगरानी और नियमन की लागत बहुत ज्यादा है।
- भारत जैसे देश में तो यह समस्या दोहरी बनकर सामने आएगी क्योंकि हमारे यहां प्रशासनिक सुधारों ने राज्यों को इस संबंध में सीमित क्षमता प्रदान की है।
- हमारे यहां मरीजों, चिकित्सकों, अस्पतालों और सरकार के स्तर पर सूचनाओं में इतनी असमानता और इतना बिखराव है कि उनको एकत्रित करना ही खासा मुश्किल है।
- यही वजह है कि किफायती बाजार आधारित हल जुटा पाना आसान नहीं है। सच यह है कि जन स्वास्थ्य की आपूर्ति में सुधार के लिए उपलब्ध फंड के बेहतर से बेहतर इस्तेमाल का अन्य कोई विकल्प है ही नहीं।

Way forward

निजी-सार्वजनिक साझेदारी के लिए चतुराईपूर्ण अनुबंध तैयार करने के प्रयासों से मूल समस्या हल नहीं होगी।

- विश्व स्वास्थ्य संगठन के मुताबिक भारत स्वास्थ्य पर होने वाले सार्वजनिक खर्च के मामले में 191 देशों में 178वें स्थान पर है और जीडीपी का केवल 1.2 फीसदी हिस्सा स्वास्थ्य पर खर्च करता है।
- हमारी सरकार थाईलैंड और चीन जैसे देशों की तुलना में स्वास्थ्य पर बहुत कम खर्च करती है।
- अब उसे उन संसाधनों को उपलब्ध बनाने पर ध्यान केंद्रित करना चाहिए और यह सुनिश्चित करना चाहिए कि स्वास्थ्य क्षेत्र के लोगों को प्रशिक्षित करने का व्यवहार्य ढांचा निर्मित किया जा सके, बजाय निजी अनुबंधों पर काम करने के। क्योंकि ये अंततः स्वास्थ्य क्षेत्र की कंपनियों को ही लाभ पहुंचाएंगे

9. निजी स्वास्थ्य संस्थानों की नकेल कसनी जरूरी

IS Spread of private sector in Health field cause of celebration?

भारत में निजी स्वास्थ्य देखभाल क्षेत्र का उत्तरोत्तर विस्तार गौरव का विषय होने के साथ हताशा का भी मुद्दा है। निजी क्षेत्र के कई अस्पतालों ने हृदय रोग, कैंसर रोग, जटिल शल्य चिकित्सा और अंगों के प्रत्यारोपण जैसी विशेषज्ञ सेवाएं देने में कामयाबी हासिल की है। परिष्कृत निदान ने चिकित्सकीय इलाज को क्रांतिकारी रूप से बदल डाला है और विदेशों की तुलना में इस इलाज की लागत भी काफी कम है। इसके बावजूद आम धारणा यही है कि **निजी अस्पताल अक्सर अनैतिक, लालची, इलाज को कारोबार मानने वाले** और अस्पताल में भर्ती मरीज को अपने मुनाफे का जरिया मानते हैं। नागरिकों को सबसे ज्यादा परेशानी स्वास्थ्य देखभाल की गुणवत्ता, मापदंड और कीमत को निर्धारित करने वाले नियमों का पूरी तरह अभाव है। इसके अलावा इस क्षेत्र में एक ओम्बड्समैन का भी अभाव खटकता है।

Absence of regulatory bodies

निजी स्वास्थ्य क्षेत्र आईटी की तरह मानवीय करिश्मे की उपज न होकर आर्थिक सुधारों के लिए घोषित कई नीतियों का परिणाम है। विभिन्न सरकारों के दौरान वित्त मंत्रालय ने निजी स्वास्थ्य क्षेत्र के विकास में प्रोत्साहक की भूमिका निभाई लेकिन इस क्षेत्र में होने वाली गड़बड़ियों पर निगरानी रखने के लिए कोई नियामकीय व्यवस्था बनाए बगैर ऐसा किया गया। निजी स्वास्थ्य सुविधाएं दे रहे संबद्ध पक्षों को उद्योग का भी दर्जा दिया गया जिसके चलते उन्हें सस्ते और लंबी अवधि के कर्ज मिलने का रास्ता साफ हो गया। वर्ष 2000 के बाद इस क्षेत्र में सौ फीसदी प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (एफडीआई) की मंजूरी मिल गई और फिर स्वास्थ्य बीमा में एफडीआई की सीमा दोगुनी होने से इस क्षेत्र का और भी विस्तार हुआ।

- चिकित्सकीय उपकरणों पर सीमा शुल्क भी 100 फीसदी से कम करते हुए 7.5 फीसदी तक लाया जा चुका है। निजी अस्पतालों के लिए जमीन भारी सब्सिडी पर दी गई। हालत यह थी कि दिल्ली के प्रमुख स्थानों पर महज 5,000 रुपये प्रति एकड़ की दर से जमीन दे दी गई। दिल्ली सरकार के साथ संयुक्त उपक्रम के रूप में स्वास्थ्य सुविधा देने के लिए एक निजी संस्थान को 15 एकड़ जमीन महज एक रुपये में सौंप दी गई।
- हालांकि इन अस्पतालों ने सस्ती जमीन लेने के लिए आर्थिक रूप से कमजोर तबकों के लोगों का मुफ्त इलाज करने की जिस शर्त पर रजामंदी जताई थी, वे उसका भी पालन नहीं कर रहे हैं। इन बाध्यकारी अनुबंधों को लंबे कानूनी पचड़ों में लपेट लिया गया है। नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक (सीएजी) ने हाल ही में प्रकाशित अपनी रिपोर्ट में इन अन्यायपूर्ण रियायतों का जिक्र किया है। इसमें बताया गया है कि मुंबई के चैरिटी अस्पताल एवं ट्रस्ट किस तरह से गरीबों का मुफ्त इलाज करने की बाध्यता से मुकर रहे हैं?

हालांकि कुल मरीजों की देखभाल का 60-80 फीसदी काम निजी स्वास्थ्य संस्थान ही कर रहे हैं। वाह्य रोगी देखभाल का 80 फीसदी और दाखिल रोगियों की देखभाल का 60 फीसदी काम इनके भरोसे ही है। यह हालत तब है जब देश के केवल महानगरों और कुछ बड़े शहरों में ही विशेषीकृत इलाज वाले अस्पताल मौजूद हैं। अधिकांश जिलों में बड़े निजी अस्पताल भी नहीं होने से अकेले प्रैक्टिस करने वाले डॉक्टर खूब कमाई कर रहे हैं। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (एनएसएसओ) के मुताबिक देश भर में इकलौते डॉक्टर वाले चिकित्सा केंद्रों की संख्या दस कर्मचारियों वाले स्वास्थ्य संस्थानों से भी काफी अधिक है। सर्वेक्षण में शामिल सभी चिकित्सकीय प्रतिष्ठानों का करीब 80 फीसदी हिस्सा इकलौते डॉक्टर वाले केंद्र ही है। इन केंद्रों का संचालन एलोपैथी, आयुर्वेद एवं होम्योपैथी डॉक्टरों के अलावा बड़े पैमाने पर ऐसे लोगों द्वारा भी किया जाता है जिनके पास कोई भी मेडिकल डिग्री नहीं है।

Health structure in India and shortcomings

- भारत में स्वास्थ्य ढांचे के सबसे निचले स्तर पर सात लाख गांव हैं जहां के निवासियों को अपनी स्वास्थ्य जरूरतों के लिए सरकार की तरफ से संचालित स्वास्थ्य उपकेंद्रों पर निर्भर रहना होता है। इन उपकेंद्रों का जिम्मा सहायक मिडवाइफ (एनम) के पास होता है लेकिन वह गंभीर बीमारी के इलाज के लिए जरूरी दवाएं संस्तुत करने के लिए अधिकृत नहीं होती है।
- इन उपकेंद्रों के ऊपर ब्लॉक स्तर पर प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र (पीएचसी) होते हैं जहां पर डॉक्टरी सलाह मिलने की संभावना होती है। देश भर में 30,000 से भी कम पीएचसी होने से जमीनी स्तर पर स्वास्थ्य सुविधाओं का अंदाजा लगाया जा सकता है। ऐसी स्थिति में गांव-देहात में रहने वाले मजदूर, रिक्शाचालक या किसान को बीमार पड़ने पर मजबूरन एक अकुशल प्रैक्टिशनर के पास

ही जाना पड़ता है। एक कुशल डॉक्टर के पास जाने का मतलब होता है कि उस मजदूर को एक दिन की दिहाड़ी गंवानी पड़ेगी और उसे गांव से शहर तक आने-जाने का बोझ भी उठाना पड़ेगा। ऐसे में उस मजदूर को उस झोलाछाप डॉक्टर के यहां जाकर ही अपनी तकलीफ से फौरी राहत ले लेना अधिक किफायती लगता है।

Professionalism?

कानूनी तौर पर डॉक्टर के अलावा कोई भी दूसरा व्यक्ति किसी बीमार का इलाज नहीं कर सकता है। लेकिन हमें एक विरोधाभास देखने को मिला है कि प्रशिक्षित डॉक्टर इन झोलाछाप डॉक्टरों को मरीज भेजने के एवज में कमीशन (फीस का 30 फीसदी) भी देते हैं। यहां तक कि प्रशिक्षित डॉक्टर ही इन लोगों को इंजेक्शन लगाने, आईवी फ्लूड चढ़ाने, एंटीबायोटिक और स्टेरॉयड दवाएं देने का मामूली प्रशिक्षण भी देते हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने वर्ष 2016 में कहा था कि भारत में प्रशिक्षित डॉक्टरों की तुलना में अप्रशिक्षित ही अधिक हैं। नियमों को कड़ाई से लागू नहीं किए जाने से ये झोलाछाप डॉक्टर मरीजों को कड़े असर वाली दवाएं भी दे देते हैं। नाकाबिल लोगों के इलाज करने और इसके व्यवसायीकरण के चलते टीबी के मरीजों पर मल्टी ड्रग का असर कम होने, एंटीबायोटिक दवाओं के नाकाम होने और चौथी पीढ़ी की दवाओं के अतार्किक इस्तेमाल जैसे मामले सामने आ रहे हैं।

भारत में समृद्ध या गरीब किसी को भी इलाज में शोषण या चिकित्सकीय कदाचार के खिलाफ कोई संरक्षण नहीं मिला है। राष्ट्रीय नियामक भारतीय चिकित्सा परिषद (एमसीआई) और राज्यों में बनी चिकित्सा परिषदें बहुत कम मौकों पर ही इस कदाचार के खिलाफ आवाज उठाती हैं। उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम 1986 भी मुआवजे पर ही ध्यान देता है जबकि इलाज में गड़बड़ी को रोकना सबसे ज्यादा जरूरी है। सरकारी संस्थानों के डॉक्टर तो इस तरह के नियंत्रण से बाहर ही रखे गए हैं।

केंद्र सरकार 2010 में क्लिनिकल इस्टेब्लिशमेंट ऐक्ट लेकर आई थी जिसमें सभी स्वास्थ्य प्रतिष्ठानों, उनके मापदंडों, कार्यबल की योग्यताओं के नियमन का जिक्र था। लेकिन अभी तक एक भी राज्य ने अपने यहां स्वास्थ्य सेवाओं के नियमन के लिए निकाय बनाने की पहल नहीं की है। आधे से अधिक राज्यों में तो ऐसे नियम भी नहीं हैं जो निजी स्वास्थ्य केंद्रों को लाइसेंस लेने के लिए बाध्य करते हों। जिन राज्यों में दिल्ली नर्सिंग होम्स ऐक्ट 1953 जैसे कानून लागू भी हैं वहां पर इसके प्रावधानों का उल्लंघन करने पर महज 100 रुपये का ही दंड लगाया जा सकता है।

तकनीकी एवं नियामकीय नियंत्रण ने दूरसंचार, ऊर्जा, नागरिक उड्डयन और कंपनी जगत में सक्रिय निजी इकाइयों को नियंत्रित करने का काम किया है। तमाम प्राधिकरण, बोर्ड, आयोग, न्यायाधिकरण और अपीलीय निकायों ने इन क्षेत्रों की निगरानी और नियमन की है। बहरहाल इंसानी जिंदगी को बचाने और उसका बेहतर इलाज करना कहीं अधिक जरूरी है। स्वास्थ्य क्षेत्र में निजी एवं सार्वजनिक हरेक स्तर की निगरानी के लिए नियामकीय प्रणाली की जरूरत है। अब ऐसा किया जाना अनिवार्य हो चुका है

Question:

सार्विक स्वास्थ्य संरक्षण प्रदान करने में सार्वजनिक प्रणाली की अपनी परिसीमाएं हैं। क्या आपके विचार में खाई को पाटने में निजी क्षेत्रक सहायक हो सकता है? आप अन्य कौनसे व्यवहार्य विकल्प सुझाएंगे।

Public health system has limitations in providing universal health coverage. Do you think that the private sector could help in bridging the gap? What other viable alternatives would you suggest? (UPSC 2015)

10. स्वास्थ्य सेवाएं जमीनी स्तर तक ले जानी जरूरी

Recent Context:

नीति आयोग और केंद्रीय स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय ने देश में द्वितीयक एवं तृतीयक स्तरीय स्वास्थ्य देखभाल सेवाओं को मजबूत करने के लिए निजी क्षेत्र के साथ मिलकर काम करने का प्रस्ताव रखा है। हालांकि इस प्रस्ताव में प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाओं को जिस तरह बाहर रखा गया है उससे इस समाधान के भी कारगर हो पाने को लेकर आशंका पैदा हो रही है।

Problem in Public Health Services

सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा में एक अपरिवर्तनीय एवं मूलभूत खामी है। चिकित्सा का एक सुदृढ़ एवं आर्थिक रूप से व्यवहार्य स्वास्थ्य देखभाल प्रणाली में बीमारियों के जन्म पर रोक लगाने और उस सामान्य बीमारी को अधिक गंभीर रूप अख्तियार नहीं कर पाने को तरजीह दी जाती है। प्राथमिक एवं उपचारात्मक स्वास्थ्य सेवाओं की वजह से ही ऐसा हो पाता है। लेकिन नीति आयोग के प्रस्ताव में इस पहलू को नजरअंदाज किया गया है। निर्बाध संपर्क और सेवा मुहैया कराने में नवाचार के इस दौर में यह उपेक्षा लगभग अविवेकपूर्ण है। मोबाइल फोन की व्यापक उपलब्धता और डिजिटल इंडिया की हालियामुहिमों से स्वास्थ्य सेवाओं तक सभी की पहुंच सुनिश्चित करने का अभूतपूर्व अवसर पैदा होता दिख रहा है।

Primary centre at the heart of Health Reform

- स्वास्थ्य देखभाल क्षेत्र में किसी भी नई पहल के कारगर होने के लिए जरूरी है कि वह देश भर में फैले 153,700 स्वास्थ्य उपकेंद्रों और 25,300 प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्रों (पीएचसी) को लगातार अपने केंद्र में रखे।
- इन स्वास्थ्य प्रदाता केंद्रों को इस तरह डिजाइन किया गया है कि वे स्वास्थ्य देखभाल की दिशा में पहले स्तंभ के तौर पर काम करें। देश भर में पैदा होने वाली स्वास्थ्य समस्याओं का तीन-चौथाई दरअसल प्राथमिक एवं उपचारात्मक स्वास्थ्य मुद्दों से ही जुड़ा होता है लिहाजा अधिकारियों के लिए इन स्तरों पर संसाधनों को सशक्त बनाना जरूरी है। ऐसा होने से स्वास्थ्य देखभाल में लगे डॉक्टर यह तय कर पाएंगे कि वे खुद उस व्यक्ति का इलाज कर सकते हैं या फिर उसे बड़े डॉक्टर के पास भेजने की जरूरत है। यह फिल्टरिंग प्रक्रिया स्वास्थ्य देखभाल की दिशा में मौजूद समस्या की असली जड़ है।

Why NITI Ayog not including Primary Healthcare in its recommendations

- ग्रामीण इलाकों में कोई भी निजी डॉक्टर काम नहीं करना चाहता है।
- अनुभवी सामान्य एवं विशेषज्ञ डॉक्टर कहीं पर भी आला दर्जे की द्वितीयक एवं तृतीयक स्वास्थ्य सेवाएं मुहैया कराने के लिए जरूरी हैं लेकिन सरकारी क्षेत्र में उनकी संख्या पहले से ही काफी कम है।
- पहले से ही विशेषज्ञ डॉक्टरों की 70 फीसदी किल्लत है और यह संख्या और भी कम हो रही है। इस स्थिति में निजी क्षेत्र इस कमी की भरपाई करने को लेकर काफी खुश है।

How proposed reform could be counter productive

लेकिन सशक्त प्राथमिक स्वास्थ्य के बगैर निजी डॉक्टरों को सीधे द्वितीयक एवं तृतीयक स्तर पर तैनात करने का उलटा नतीजा भी हो सकता है। सरकार की तरफ से जारी कई बड़े अध्ययनों में यह सामने आया है कि द्वितीयक एवं तृतीयक स्तर पर होने वाले इलाज का 70 फीसदी से भी अधिक हिस्सा असल में प्राथमिक स्वास्थ्य का ही है।

Solution: **Tele-Health**

अगर हम यह मान लें कि ग्रामीण इलाकों में निजी डॉक्टर लगभग नदारद हैं तो हमारी रणनीति पीएचसी में तैनात डॉक्टरों पर केंद्रित होनी चाहिए। करीब 90 करोड़ ग्रामीण आबादी के लिए 27,400 सरकारी डॉक्टर ही तैनात हैं (यानी प्रति 33,000 लोगों पर एक डॉक्टर है जबकि यह अनुपात 1:1000 होना चाहिए)। हमें ग्रामीण इलाकों में तैनात डॉक्टरों के साथ निजी डॉक्टरों को भी जोड़ना होगा। इसका एक तरीका तो यह है कि पीएचसी पर निजी डॉक्टरों को तैनात किया जाए लेकिन ऐसा करना आसान नहीं होगा। दूसरा तरीका यह है कि शहरों में मौजूद निजी डॉक्टर वीडियो के जरिये मरीजों को परामर्श दें। हरेक साल करीब 45,000 डॉक्टर बनते हैं लेकिन दूरदराज के इलाकों में उन्हें तैनात करना लगभग नामुमकिन नजर आता है। ऐसे में इसका व्यावहारिक विकल्प यही दिखता है कि तेजी से विकसित हो रहे संचार नेटवर्क का इस्तेमाल किया जाए।

- अस्पतालों में काफी भीड़ होती है लेकिन वहां पर भी पर्याप्त डॉक्टर नहीं हैं और ग्रामीण क्षेत्रों में स्थिति और भी गंभीर है। प्राथमिक एवं निवारक स्वास्थ्य सेवाएं प्रदान करना असल में सरल काम है। इसके लिए कुछ बुनियादी दक्षता और कम-खर्च वाली ऐसी सुविधाओं की जरूरत होती है जिससे वे दूर बैठे डॉक्टर से भी संपर्क साध सकेंगे। दरअसल डाटा संपीड़ित करने में भारत को हासिलमहारत ने दूर रहते हुए भी चिकित्सकीय निदान को संभव कर दिखाया है।
- अब रक्तचाप, शर्करा, गर्भस्थ शिशु की हलचल और दिल की धड़कनों जैसे अहम मानदंडों को 2जी नेटवर्क से भी भेजा जा सकता है। गत 19 जुलाई को केंद्रीय मंत्रिमंडल ने ग्रामीण क्षेत्रों में ब्रॉडबैंडसेवा के विस्तार के लिए 42,000 करोड़ रुपये खर्च करने का फैसला किया है ताकि मार्च 2019 तक 2.5 ग्राम पंचायतों को इंटरनेट से जोड़ा जा सके। इससे हालात सुधरेंगे और तकनीक-आधारित समाधानों के जरिये तमाम स्वास्थ्य सेवाएं दी जा सकेंगी। दूरसंचार विभाग ने 26 अक्टूबर को जारी अपने अनुमान में कहा है कि इस साल के अंत तक एक लाख ग्राम पंचायतों को फाइबर ऑप्टिकनेटवर्क से जोड़ लिया जाएगा। यह उल्लेखनीय प्रगति है और भविष्य के लिए अच्छा संकेत देती है।
- टेली कंसल्टेशन (वीडियो या फोन के जरिये परामर्श) से वर्तमान सार्वजनिक-निजी भागीदारी की एक बड़ी खामी- स्वास्थ्य सेवाओं की डिलिवरी पर निगरानी रखने में नाकामी को भी दूर किया जा सकेगा। अक्सर आरोप लगते हैं कि समुचित निगरानी नहीं होने से धोखाधड़ी होती है। डिजिटल प्रणाली में सभी परामर्शों और नुस्खों का विवरण एक सर्वर पर उपलब्ध होगा जिससे उन परामर्शों के सभी पहलुओं की केंद्रीकृत निगरानी की जा सकती है।

नीति आयोग को भी स्वास्थ्य देखभाल देने में उपभोक्ता की मनोवृत्तियों को समझने की जरूरत है। निर्धनतम ग्रामीण परिवार भी अपने किसी सदस्य के गंभीर रूप से बीमार पड़ने पर किसी तरह पैसे का इंतजाम कर उसे द्वितीयक या तृतीयक स्वास्थ्य सेवा मुहैया कराने की पूरी कोशिश करेगा। लेकिन प्राथमिक एवं उपचारात्मक स्वास्थ्य मामलों में वही परिवार अपने आसपास ही उसकी मौजूदगी चाहेगा।

अगर उसे अपने घर के पास यह स्वास्थ्य सेवा नहीं मिलेगी तो जरूरत होने पर भी वह दूर नहीं जाना चाहेगा। इस हकीकत को स्वीकार करने का समय आ गया है और हमें उसी के हिसाब से उपाय तलाशने होंगे।

नीति आयोग जिला अस्पतालों में उपलब्ध स्वास्थ्य सेवाओं का दायरा बढ़ाने के लिए निजी क्षेत्र को आमंत्रित कर सकता है लेकिन प्राथमिक स्वास्थ्य में निजी भागीदारी होने पर आवंटित मद का भी बेहतर इस्तेमाल किया जा सकेगा। सीएजी के मुताबिक राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन के तहत बाल एवं मातृ स्वास्थ्य के लिए आवंटित 9,500 करोड़ रुपये के फंड का इस्तेमाल नहीं हो सका था। तकनीक का भी अधिक रचनात्मक इस्तेमाल करने की जरूरत है ताकि मौजूदा संसाधनों का कारगर उपयोग हो सके। कई राज्यों ने तकनीक का इस्तेमाल सरकारी सेवाओं के बेहतर क्रियान्वयन के लिए करना शुरू किया है लेकिन उनके केंद्रों में प्रशासकीय मसले ही अधिक हैं। आंकड़े दर्ज करने की अनिवार्यता से निचले स्तर के कर्मचारियों पर काम का बोझ भी बढ़ा है। ऐसे में आश्चर्य नहीं है कि यह शायद ही काम कर पाया है। शुरुआत में हमें प्राथमिक स्वास्थ्य कर्मचारियों एवं डॉक्टरों को ऐसे प्रबंधकीय उपकरण देने चाहिए जिनसे उनका काम अधिक आसान हो सके। इससे स्वास्थ्य सेवा मुहैया भी आसान हो सकेगी।

EDUCATION

1. बेरोजगारी की लाचारी [INDICATES OF FAILURE OF EDUCATION SYSTEM]

Recent context

- यह खबर विचलित करती है कि राजस्थान विधानसभा सचिवालय में चतुर्थ श्रेणी कर्मचारियों की भर्ती के लिये सैकड़ों इंजीनियरों, वकीलों, चार्टर्ड अकाउंटेंटों व कला स्नातकोत्तरों ने आवेदन किये।
- उस पर तुरंत ये कि भाजपा के एक विधायक के पुत्र का चयन चपरासी के लिये हुआ, जिसको लेकर सवाल उठाये जा रहे हैं कि इस चतुर्थ श्रेणी के पद के लिये राजनीतिक प्रभाव का इस्तेमाल हुआ।
- ऐसी ही खबर पिछले दिनों हिसार से आई थी कि जिला व सत्र न्यायालय में 17 चपरासियों की भर्ती के लिये पंद्रह हजार से अधिक बेरोजगारों ने आवेदन किये। जिसमें पीएचडी, एमएससी, बीसीए व अन्य उच्च पाठ्यक्रम की अहर्ता रखने वाले बेरोजगारों ने आवेदन किये

Employment and bleak picture in India

- ये घटनाक्रम जहां देश में भयावह बेरोजगारी की हकीकत को बयां करता है, वहीं इन डिग्रियों के अवमूल्यन की वजहों पर सोचने को विवश करता है।
- देश के सत्ताधीश भले ही रोज नये सब्जबाग दिखाते हों, जमीन पर रोजगार की स्थिति किसी से छिपी नहीं है। सही मायनों में यह शासन की विफलता को इंगित करता है।

- बड़ी-बड़ी योजनाओं और घोषणाओं के बावजूद रोजगार के वास्तविक अवसर उपलब्ध नहीं हो पा रहे हैं। यहां सवाल ये भी उठता है कि क्यों उच्च डिग्रियों के धारक चतुर्थ श्रेणी की पोस्ट के लिये आवेदन कर रहे हैं। क्या उनमें आत्मविश्वास की कमी है कि इससे बेहतर नौकरी नहीं मिल पायेगी?

A big Question : Performance of our Education system

ये घटनाएं जहां हमारे शैक्षिक संस्थानों और पाठ्यक्रमों की उपादेयता पर सवाल खड़े करती हैं, वहीं ये भी बताती हैं कि हमारी शैक्षणिक संस्थाओं का स्तर कैसा है और वे कैसे प्रशिक्षित समाज को दे रही हैं। सही मायनो में शिक्षा परंपरागत लीक ज्ञान तो दे रही है लेकिन वक्त की जरूरतों के हिसाब से वे बेकारी को ही विस्तार दे रही हैं। यह सत्तांत्र की विफलता को तो बेनकाब करता ही है, साथ ही नई पीढ़ी में उद्यमिता की सोच के अभाव को भी दर्शाता है। बेरोजगारों में यह धारणा बलवती है कि चाहे चतुर्थ श्रेणी की ही नौकरी मिले, मगर हो सरकारी। जाहिरा तौर पर ये उस तंत्र की हकीकत भी बताता है, जहां बेरोजगार आने को उतावले हैं। यह भी एक हकीकत है कि नोटबंदी और जीएसटी के अव्यावहारिक क्रियान्वयन ने भी देश के सामने रोजगार का संकट खड़ा किया है, जिसकी गूंज पिछले दिनों संसद में भी सुनाई दी। सरकार को इन दो झटकों से देश को उबारने के लिये रोजगारपरक कार्यक्रम चलाने चाहिए। यह भी हकीकत है कि बेरोजगारी की हताशा युवाओं को पथभ्रष्ट भी कर सकती है। मामला गंभीर है और इसका समाधान भी गंभीरता से निकाला जाना चाहिए।

2. रोजगार लायक कौशल नहीं दिला पा रही शिक्षा व्यवस्था

वैश्विक प्रतिभा प्रतिस्पर्धा सूचकांक में भारत की स्थिति सुधरी है और वह गत वर्ष के 92वें स्थान से 81वें स्थान पर आ गया है। यह सूचकांक एडेको, इनसीड और टाटा कम्युनिकेशंस द्वारा विश्व आर्थिक मंच की दावोस में आयोजित सालाना बैठक के पहले दिन जारी किया गया। इस सूचकांक में इस बात का आकलन किया जाता है कि विभिन्न देश अपनी प्रतिभाओं का विकास कैसे करते हैं, उन्हें अपनी ओर आकर्षित कैसे करते हैं और किस तरह उनको अपने साथ जोड़े रखते हैं। बहरहाल अच्छी खबर यहीं तक सीमित है क्योंकि सन 2017 में भारत की रैंकिंग पांच ब्रिक्स देशों में सबसे कमजोर थी। चीन 43वें, रूस 53वें, दक्षिण अफ्रीका 63वें और ब्राजील 73वें स्थान पर रहा।

विविधता इस सूचकांक के प्रमुख घटकों में से एक है। इसकी आवश्यकता उन जटिल कामों के लिए होती है जिनमें रचनात्मकता जरूरी होती है। रिपोर्ट के सह संपादक पॉल इवांस के मुताबिक पिछले कुछ दशकों में विविधता का सवाल काफी अहम होकर उभरा है क्योंकि अब तमाम देशों को भी यह समझ में आ गया है कि एकरूपता और समन्वय में काफी अंतर है। इनके बीच के अंतर को सक्षमता, प्रतिस्पर्धा और नवाचार के मानकों पर आंका जा सकता है। औपचारिक शिक्षा पर सहयोगपूर्ण सक्षमता तैयार करने की अहम जिम्मेदारी है। एक समावेशी विश्व के लिए यह आवश्यक है।

Human resource key to growth

जिन देशों को बतौर संसाधन विविधता का मूल्य पता है और जो उसे प्रभावी ढंग से अपनाते हैं वे इस वर्ष के

सूचकांक में शीर्ष पर हैं। उदाहरण के लिए स्विट्जरलैंड एक बार फिर इस सूचकांक में शीर्ष पर है। वह अपनी प्रतिभाओं को संभालता है और नई प्रतिभाओं का स्वागत भी करता है। स्विट्जरलैंड की एक चौथाई आबादी विदेशों में पैदा हुई है, हालांकि वहां स्त्री-पुरुष अनुपात का मसला बरकरार है। मध्य आय वर्ग वाले देशों में मलेशिया का प्रदर्शन अच्छा है और वह 27वें स्थान पर है। वहां श्रमिकों को भर्ती करने के मानक आसान हुए हैं और माध्यमिक शिक्षा में रोजगार को लेकर वह प्रभावी कौशल तैयार कर सका है।

Brain drain and India

सूचकांक प्रतिभा पलायन के विषय पर भी बात करता है यानी कैसे देश अपनी सर्वश्रेष्ठ प्रतिभाओं को अपने साथ बरकरार रखता है। इस मोर्चे पर भारत का प्रदर्शन काफी कमजोर है। रिपोर्ट में कहा गया है कि हमारा देश प्रतिभा पलायन के मोर्चे पर काफी सुधार कर सकता है। इसके लिए उसे बाहर जा चुकी प्रतिभाओं को दोबारा आकर्षित करना होगा। इस मोर्चे पर सूचकांक में हमें 98वां स्थान और प्रतिभाओं को बरकरार रखने के मामले में 99वां स्थान मिला है। खासतौर पर उच्च कौशल वाले लोगों बाहर जाने की बढ़ती रफ्तार को देखते हुए प्रतिभाओं को आकर्षित करना अहम है। इसकी वजह एकदम स्पष्ट है। मेहनताने की बात की जाए तो शैक्षणिक जगत में अमेरिका में एक भारतीय को मिलने वाला वेतन अपने भारतीय समकक्ष की तुलना में छह गुना तक होता है। प्रबंधन में यह अंतर तीन गुना और आईटी में दो गुना तक है। ऐसे में आश्चर्य नहीं कि भारत विदेशों से प्रतिभाओं को आकर्षित करने में नाकाम है। इस मोर्चे पर भारत का प्रदर्शन निहायत खराब है। सबसे अहम बात यह है कि शीर्ष रैंकिंग वाले तमाम देशों में एक बात समान थी। उन सभी की शिक्षा व्यवस्था अच्छी तरह विकसित है और उनमें मौजूदा श्रम बाजार की जरूरतों के मुताबिक कौशल प्रदान किया जाता है।

- इस मोर्चे पर भारत बहुत हद तक नाकाम है। असर 2017 रिपोर्ट के मुताबिक ग्रामीण भारत में 14 से 18 की उम्र के बच्चे बड़ी तादाद में हर साल स्कूल छोड़ देते हैं। एक मोटे अनुमान के मुताबिक करीब 17 लाख बच्चे हर वर्ष स्कूल से बाहर हो जाते हैं।
- बड़ी समस्या यह है कि जो बच्चे स्कूल में बने भी रहते हैं वे भी एकदम बुनियादी बातें नहीं सीख पाते। ये बच्चे बमुश्किल साक्षर होते हैं और ऐसे में वे किसी कौशल विकास पाठ्यक्रम में शामिल नहीं हो सकते। नतीजा, वे या तो कोई छोटा-मोटा काम करते हैं या बेरोजगार रहते हैं। उन्हें या तो खेतों में काम करना पड़ता है या फिर वे छोटी-मोटी मजदूरी करते हैं।
- सरकार ने खुद यह संकेत दिया है प्रधानमंत्री कौशल विकास कार्यक्रम के अधीन अप्रैल 2016 तक करीब 17.6 लाख लोगों को प्रशिक्षण दिया गया उनमें से केवल 5.60 लाख लोगों ने इसे सफलतापूर्वक पूरा किया। इनमें से भी केवल 82,000 लोगों को रोजगार मिला। परंतु जिन लोगों को रोजगार मिला उनका कौशल भी बहुत जल्दी पुराना पड़ गया क्योंकि देश में ऐसा कोई तंत्र नहीं है जिसके तहत इलेक्ट्रिशियन, प्लंबर, कृषि मशीन संचालकों और अन्य कौशल वाले श्रमिक अपने कौशल को निरंतर उन्नत बना सकें। विकसित देशों में इसके लिए संस्थागत लाइसेंसिंग की व्यवस्था है।
- स्त्री-पुरुष असमानता भी एक मुद्दा है। एक बार आठ वर्ष की अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा समाप्त होने के बाद लड़कियां, लड़कों की तुलना में अच्छे नंबर पाने के बावजूद स्कूल जाना बंद कर देती हैं। 18 वर्ष की उम्र तक पहुंचते-पहुंचते शिक्षा छोड़ने वाली लड़कियों की तादाद इसी उम्र के लड़कों की तुलना में 4.3 फीसदी अधिक होती है। जब तक ये मुद्दे देश की प्राथमिकता सूची में नहीं आते तब

तक प्रतिभा प्रतिस्पर्धा के वैश्विक सूचकांक में अपनी स्थिति सुधरने के बारे में हम सोच भी नहीं सकते।

3. सतर्क करती रिपोर्ट : UNICEF Report

भारत में नवजात बच्चों की स्थिति पर यूनीसेफ की रिपोर्ट चौंकाने वाली है। इसमें सबसे खराब स्थिति में पाकिस्तान भले दिखे, भारत कोई बहुत बेहतर स्थिति में नहीं है। भारत उन दस देशों में है, जहां नवजात बच्चों की सबसे ज्यादा चिंता करने की जरूरत है। रिपोर्ट चौंकाती है कि लाख जतन के बावजूद नवजात शिशु मृत्यु-दर के मामले में हम बहुत कुछ नहीं कर सके हैं और आज भी बांग्लादेश, इथियोपिया, गिनी-बिसाऊ, इंडोनेशिया, माली, नाइजीरिया, पाकिस्तान और तंजानिया के साथ खड़े दिखाई दे रहे हैं, जिनके बारे में रिपोर्ट बहुत मुखर है कि नवजात का जीवन सुरक्षित करने के लिए सबसे ज्यादा चिंता करने की जरूरत इन्हीं को है।

रिपोर्ट के अनुसार, पाकिस्तान सबसे ज्यादा जोखिम वाला देश है, जहां प्रति 22 नवजात में से एक अपना पहला महीना पूरा करने से पहले ही दम तोड़ देता है, जबकि भारत में यह संख्या प्रति हजार पर 26 है, यानी थोड़ा बेहतर। आश्चर्यजनक रूप से बांग्लादेश, नेपाल और भूटान भी इस मामले में हमसे बेहतर हैं। नवजात शिशुओं के लिए सबसे सुरक्षित जापान है, जहां प्रति एक हजार में यह दर एक से भी नीचे है।

तथ्य यह है कि हमारे यहां जितनी महिलाएं हर रोज बच्चा पैदा करने के दौरान मरती हैं, उससे कहीं ज्यादा गर्भ संबंधी बीमारियों का शिकार होती हैं, जिसका दंश उनके साथ लंबे समय तक चलता है। अगली जचकी में भी इसका असर पड़ता है और फिर यह सिलसिला चलता जाता है। इससे निजात सरकारी स्वास्थ्य व्यवस्था में आमूल बदलाव से ही संभव है। 2030 तक नवजात मृत्यु-दर का आंकड़ा 12 पर समेटने का लक्ष्य भी शायद तभी पूरा हो सकेगा। एक चिंताजनक पहलू इस तालिका में भी बालिका शिशु मृत्यु-दर का अधिक होना है, जिसके लिए सामाजिक ताने-बाने का बारीक अध्ययन कर समाधान तलाशने की जरूरत है।

4. स्वायत्तता की परख (Autonomy of Institutions)

Recent Context

सरकार का देश के 52 विश्वविद्यालयों और आठ कॉलेजों को स्वायत्तता (Autonomy of Institutions) देने का फैसला संघीय शिक्षा नीति की दिशा में उठाया गया एक साहसिक कदम है। आला दर्जे के प्रबंध संस्थानों और भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थानों (आईआईटी) के लिए भी ऐसा ही कदम उठाने से सरकार का यह फैसला प्रस्तावित शिक्षा नीति में तय तर्कसंगत राह को दिखाता है।

ANALYSIS of This Step

- अगर मानव संसाधन विकास मंत्रालय के बंधन से मुक्त हो रहे संस्थानों की ऊर्जा गुणवत्तापरक शिक्षा मुहैया कराने पर केंद्रित हो रही है तो एक व्यापक सिद्धांत के तौर पर यह एक वांछनीय प्रगति है।

- हालांकि कई बिंदुओं पर संदेह भी पैदा होता है। पहला मुद्दा स्वायत्तता के दायरे से संबंधित है। इसमें एक प्रगतिशील और सशक्त करने वाली कवायद निहित है लेकिन काफी शक्तियां विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) और मानव संसाधन विकास मंत्रालय में ही निहित हैं

सरकार ने आला दर्जे के विश्वविद्यालयों को स्वायत्तता देने की बात कही है लेकिन इस दर्जे का निर्धारण कौन करता है?

READ MORE@GSHINDI Revitalising of Infrastructure and Systems in Education (RISE) मॉडल के तहत सबसे ज्यादा पैसा आईआईटी को मिलने जा रहा है

Critaris to be used for Autonomy?

गत 12 फरवरी को जारी एक अधिसूचना के **मुताबिक राष्ट्रीय मूल्यांकन एवं शिक्षा परिषद** या किसी प्रतिष्ठित प्रमाणन एजेंसी मान्यता द्वारा दिए गए अंक ही इस वर्गीकरण का पैमाना होंगे। पहली संस्था तो यूजीसी के मातहत काम करती है जबकि प्रमाणन एजेंसी का निर्धारण अभी बाकी है। दो निजी एजेंसियों की तरफ से जारी दुनिया के शीर्ष 500 संस्थानों की रैंकिंग की भी वर्गीकरण में भूमिका होती है। अधिसूचना में जिक्र है कि किसी श्रेणी में उपस्थिति स्व-प्रमाणन पर निर्भर करती है लेकिन जब अंक देने की प्रक्रिया यूजीसी-आश्रित संस्थानों पर निर्भर है तो यह प्रावधान सर्कुलर को तर्कसंगत बना देता है। यह भी साफ नहीं है कि क्या कुलपति एवं प्रबंधन शिक्षकों की नियुक्ति भी यूजीसी के दायरे में आती है? ((#GSHINDI, #THECOREIAS))

बड़ा सवाल यह है कि क्या यह मान्यता तब भी बनी रहेगी जब कोई विश्वविद्यालय सरकार के सामाजिक एजेंडे से मेल नहीं खाने वाला कोई पाठ्यक्रम शुरू करता है या सरकार के प्रति आलोचनात्मक रुख रखने वाले शिक्षक को नियुक्त करता है।

भारत में मानविकी के पाठ्यक्रमों में सरकारी हस्तक्षेप के मामले बढ़ने से ऐसे हालात पैदा होना नामुमकिन भी नहीं है। अमेरिका में भी रिचर्ड निक्सन और डॉनल्ड ट्रंप छात्र राजनीति के लिए मशहूर विश्वविद्यालयों को संघीय मदद रोकने की धमकी देते रहे हैं। भारत के लिए बड़ी चिंता यह है कि इस स्वायत्तता की असली वजह शैक्षणिक न होकर वित्तीय है। नई योजना में गुणवत्ता वाले संस्थानों को नए पाठ्यक्रम संचालित करने तथा नए विभाग, केंद्र एवं स्कूल खोलने की स्वतंत्रता होगी लेकिन इसके लिए संसाधन उन्हें खुद जुटाने होंगे। वे 20 फीसदी शिक्षक विदेशों से भी रख सकते हैं और विदेशी छात्रों को 20 फीसदी आरक्षण भी दे सकेंगे। इसका मतलब है कि पहली श्रेणी के इन विश्वविद्यालयों को अमेरिकी मॉडल अपनाने को कहा जा रहा है जिसमें निजी क्षेत्र से वित्त जुटाने के लिए बड़े विभाग होते हैं। पश्चिम के नामचीन विश्वविद्यालयों में शैक्षणिक पीठ, छात्रवृत्ति एवं शोध केंद्रों का नाम दानकर्ताओं के सम्मान में रखने की परिपाटी है। भारत में आईआईटी भी इस मॉडल को अपनाने में कुछ हद तक सफल रहे हैं।

आगे चलकर इससे एक स्वस्थ माहौल बन सकता है लेकिन लंबे समय तक सरकारी फंड पर निर्भर रहे इन संस्थानों को शुरुआती दिक्कतें हो सकती हैं। असली चिंता इस स्वायत्तता के फीस ढांचे पर पड़ने वाले असर को लेकर है। विदेशी शिक्षकों को नियुक्त करने से निस्संदेह उच्च शिक्षा का स्तर ऊंचा उठाने में मदद मिलेगी लेकिन इसकी कीमत कमजोर पृष्ठभूमि से आने वाले योग्य छात्रों को चुकानी पड़ सकती है। अव्वल दर्जे के संस्थानों के विशिष्ट लोगों की शिक्षा का केंद्र बन जाने का डर वास्तविक है। मंत्रालय को इस समस्या पर भी ध्यान देने की जरूरत है

5. शिक्षा की दुर्गति

- पटना जिले की यह तस्वीर पूरे राज्य के स्कूलों की व्यवस्था की बानगी है कि यहां 75 स्कूलों के आकस्मिक निरीक्षण में 225 शिक्षक अनुपस्थित पाए गए।
- खुद डीएम जिस कन्या विद्यालय का निरीक्षण करने पहुंचे, वहां 30 में से 28 शिक्षक अनुपस्थित थे। अनुपस्थित का आशय है कि शिक्षक बिना अवकाश लिए गायब थे।
- डीएम ने इन शिक्षकों का एक दिन का वेतन काटने का निर्देश दिया है। यह दंड भी समझ से परे है। जिस दिन शिक्षक ड्यूटी से गायब थे, उस दिन का वेतन तो कटना ही चाहिए था। इसमें दंड क्या? सवाल यह है कि बिना छुट्टी स्वीकृत कराए गायब रहने के लिए उन पर क्या कार्रवाई हुई?

Disciplinary action?

इन स्कूलों के प्रधानाचार्यों और अनुपस्थित पाए गए शिक्षकों से स्पष्टीकरण मांगा गया है। क्या ऐसे अनुशासनहीन शिक्षकों के खिलाफ कड़ी कार्रवाई का कोई प्रावधान नहीं है? शिक्षकों के इस रवैये ने राज्य की शिक्षा प्रणाली ध्वस्त कर दी है। शिक्षा और परीक्षा की बदहाली को लेकर पिछले दो साल से बिहार की बदनामी पूरे देश में हो रही है। इसके बावजूद शिक्षकों को अपना कर्तव्य याद नहीं रहता। **How far administration responsible?**

शिक्षकों की इस बेपरवाही की मुख्य वजह उनकी अनुशासनहीनता के प्रति शासन-प्रशासन का बेहद नरम रवैया है। सबको याद है कि इस साल शिक्षकों ने अपनी वेतन बढ़ोतरी के लिए बोर्ड परीक्षा उत्तर पुस्तिकाओं के मूल्यांकन कार्य का बहिष्कार किया था। इसके चलते सरकार को जटिल परिस्थिति में उत्तर पुस्तिकाओं का मूल्यांकन करवाना पड़ा था। इसका प्रभाव रिजल्ट में तमाम विसंगतियों के रूप में सामने आया। उस वक्त भी शिक्षकों पर कोई कार्रवाई नहीं की गई

Need of strong action

अपनी सुविधाओं के लिए आंदोलन करने वाले शिक्षक कक्षाओं में पढ़ाने का अपना मूल कार्य नहीं करते, इससे बड़ी विडंबना क्या हो सकती है। सरकार शिक्षकों के प्रति गैरजरूरी नरमी का परित्याग करे और जो शिक्षक समझाने-बुझाने के बाद भी अपना दायित्व नहीं समझ रहे, उनके प्रति कठोर कार्रवाई की जाए। एक दिन का वेतन कटने से किसी शिक्षक की सेहत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा 'दंड' उनके लिए नितांत सुविधाजनक है। शासन को देखना चाहिए कि अनुशासनहीन शिक्षकों पर किन प्रावधानों के तहत कड़ी कार्रवाई की जा सकती है। यदि ऐसे प्रावधान नहीं हैं तो नियमावली में संशोधन किया जाना चाहिए

6. सरकारी स्कूलों की साख

Recent direction of HRD

- मानव संसाधन मंत्रालय ने सभी राज्य सरकारों से कहा है कि शिक्षकों को जनगणना, चुनाव या आपदा राहत कार्यों को छोड़कर अन्य किसी भी ड्यूटी पर न लगाया जाए।

- इसके अलावा प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा को लेकर एक बड़ा कदम उठाते हुए सरकार ने शिक्षा का अधिकार अधिनियम-2009 में संशोधन करते हुए शिक्षकों की ट्रेनिंग अवधि मार्च 2019 तक बढ़ा दी है।
- 2010 में यह कानून लागू हुआ था तो देश भर में करीब साढ़े चौदह लाख शिक्षकों की भर्ती की गई थी। इनमें बहुतों के पास न तो बच्चों को पढ़ाने के लिए कोई डिग्री थी, न प्रशिक्षण। इनकी ट्रेनिंग का काम 31 मार्च 2015 तक पूरा होना था, जो नहीं हो पाया तो अब अधिनियम में संशोधन करना पड़ा है।

14 साल तक के सभी बच्चों को गुणवत्तापरक शिक्षा मिले, इसके लिए इस संशोधन का स्वागत होना चाहिए, लेकिन सरकारी स्कूलों की बीमार हालत को देखते हुए ऐसे फैसलों को लेकर ज्यादा उत्साहित नहीं हुआ जा सकता।

- शिक्षकों को प्रशिक्षित कर भी दिया जाए तो ज्यादातर जगहों पर इन स्कूलों में बच्चे ही नहीं आते।
- दोहरी शिक्षा व्यवस्था ने अभिभावकों के मन में यह बात बिठा दी है कि बच्चे को पढ़ाना है तो उसे इंग्लिश मीडियम स्कूल में भेजा जाए। हालांकि ऐसे स्कूलों के लिए भी कोई मानक नहीं है और इनमें ज्यादातर का हाल सरकारी स्कूलों जैसा ही है।
- मिड-डे मील से बच्चों के स्कूल जाने का ग्राफ कुछ चढ़ा, फिर स्कूल कुल मिलाकर खाना बनाने-खाने की जगह बनकर रह गए। जहां-तहां मां-बाप अपने बच्चों को खाने के लिए प्राइमरी स्कूल में भेज देते हैं, लेकिन पढ़ने के लिए वे इंग्लिश मीडियम वाले प्राइवेट स्कूल में ही जाते हैं।

Question remain unresolved

जाहिर है, समस्या सिर्फ शिक्षकों की ट्रेनिंग से नहीं जुड़ी है। भाषाई राजनीति वाले दो-चार प्रदेशों को छोड़ दें तो पूरे देश में सरकारी स्कूलों की कोई साख ही नहीं बची है। इस समस्या से उबरने के लिए नीति आयोग के सीईओ अमिताभ कांत ने शिक्षा को प्राइवेट हाथों में सौंप देने का सुझाव दिया है, लेकिन उसके अपने खतरे हैं। सरकार को अगर व्यापक आबादी को दी जाने वाली शिक्षा का हाल सुधारना है तो उसे सरकारी स्कूलों में अंग्रेजी पढ़ाने जैसे कुछ ठोस उपायों के जरिये लोगों में इनकी साख बहाल करनी होगी

7. सरकारी स्कूलों की खस्ता हालत' देश के केवल 37 प्रतिशत स्कूलों में ही बिजली

In news:

सरकारी अस्पतालों की भांति सरकारी स्कूलों की दशा भी अत्यंत खराब है और वहां स्वच्छ पानी, शौचालयों और लगातार बिजली जैसी बुनियादी सुविधाओं का अभाव है। अनेक स्कूलों में तो बच्चों के बैठने के लिए टाट, ब्लैकबोर्ड व अध्यापकों के लिए कुर्सियां और मेज तक नहीं हैं। स्कूलों में अध्यापकों व अन्य स्टाफ की भी भारी कमी है। अनेक स्कूलों की इमारतें इस कदर जर्जर हालत में हैं कि वहां किसी भी समय कोई बड़ी दुर्घटना हो सकती है। दिल्ली में शाहबाद डेरी स्थित लड़कियों के सीनियर सैकेंडरी स्कूल में 2015 में बिजली का करंट लगने से 3 छात्राएं घायल भी हो चुकी हैं।

- मध्य प्रदेश के नीमच जिले के मुहकमपुरा गांव में एक सरकारी स्कूल इस्तेमाल के लिए बंद किए जा चुके शौचालय में चलाया जा रहा है।
- मात्र एक अध्यापक द्वारा संचालित यह स्कूल 2012 में एक किराए के मकान में शुरू किया गया था और जब वह कमरा भी खाली करवा लिया गया तो उसके बाद से इस स्कूल की कक्षाएं एक पेड़ के नीचे

लगाई जा रही हैं और वर्षा होने पर यहां पढ़ने वाले 34 बच्चे एक परित्यक्त शौचालय में पढ़ने के लिए बिठा दिए जाते हैं।

- अभी हाल ही में भारत के कम्पट्रोलर एंड ऑडिटर जनरल (केग) ने हरियाणा के सरकारी स्कूलों के बारे में यह रहस्योद्घाटन किया था कि वहां 788 प्राइमरी स्कूलों और 269 अपर प्राइमरी स्कूलों को 1-1 अध्यापक द्वारा ही चलाया जा रहा है। हरियाणा के चंद हाई स्कूलों में विद्यार्थियों द्वारा अध्यापकों की कमी को लेकर प्रदर्शन तक किए जा चुके हैं।
- अभी गत दिनों ही रेवाड़ी जिले के गोठड़ा तप्पा गांव के स्कूल की छात्राओं ने अध्यापकों की कमी को लेकर प्रदर्शन किया था।
- उल्लेखनीय है कि देश में अनेक राज्यों के सरकारी स्कूलों में स्वतंत्रता के 70 वर्ष बाद भी बिजली नहीं पहुंची है और आज भी उन स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चे गर्मी के मौसम में भारी परेशानी झेल रहे हैं।
- इसी सिलसिले में 3 अगस्त को राज्यसभा में मानव संसाधन राज्यमंत्री उपेंद्र कुशवाहा ने बताया कि इस समय तक देश में 62.81 प्रतिशत स्कूलों में ही बिजली पहुंची है तथा मार्च 2017 तक देश के 37 प्रतिशत से अधिक सरकारी स्कूल बिजली के कनेक्शनों से वंचित थे।
- इस सूची में झारखंड सबसे निचले पायदान पर है जहां सिर्फ 19 प्रतिशत स्कूलों में ही अब तक बिजली पहुंची है। इसके बाद असम (25 प्रतिशत), मेघालय (28.54), मध्य प्रदेश (28.80), त्रिपुरा (29.77), ओडिशा (33.03), बिहार (37.78) तथा मणिपुर (39.27 प्रतिशत) का स्थान है। यही नहीं पंजाब सहित कुछ राज्यों के शिक्षा विभागों के पास पैसे न होने के कारण चंद स्कूलों के प्रबंधकों द्वारा छात्रों को बिजली का बिल भरने के लिए विवश करने के भी समाचार हैं।

भारतीय शिक्षा तंत्र में बुनियादी सुविधाओं के मामले में लगभग समूचे देश में यही स्थिति है। अतः सहज ही कल्पना की जा सकती है कि जब बच्चों को बुनियादी शिक्षा ही सही ढंग से प्राप्त नहीं होगी तो आगे चल कर किस प्रकार अच्छी तरह अपना जीवनयापन करेंगे। भारतीय स्कूलों की ऐसी दुर्दशा के दृष्टिगत समस्या का त्वरित निवारण करते हुए भारतीय स्कूलों को अनिवार्य बुनियादी सुविधाओं से लैस करने की आवश्यकता है। जब स्कूलों में ही अंधकार रहेगा तो वहां पढ़ने वाले छात्रों को ज्ञान का प्रकाश कैसे मिल सकता है

8. हम शिक्षक को किनारे कर शिक्षण चाहेंगे तो शिक्षा का बंटाना तो होगा ही

बहुत से लोग हैं जो मानते हैं कि शिक्षक बहुत कम काम करते हैं। हफ्ते में दस या बारह कक्षा उनके हिसाब से मज़ाक हैं। जैसे वे जैसे ही सरकारें शिक्षकों के सिर्फ दस-बारह कक्षाओं के काम को देखते हुए उनकी तनख्वाह का कोई तर्क समझ नहीं पातीं। ऊपर से दो महीने की गर्मियों की छुट्टियां शिक्षकों से और भी जलन का कारण बन जाती हैं। जैसे, छुट्टियों के दौरान जब कक्षाएं बंद हो जाती हैं, अध्यापकों को आराम रहता हो, ऐसा नहीं। परीक्षा समाप्त होने के बाद उत्तर पुस्तिकाओं की जांच से लेकर नए सत्र के लिए दाखिलों में वे किसी न किसी में व्यस्त ही रहते हैं। इसलिए दो महीने का अवकाश एक मिथ है।

- पढ़ाई या कक्षा को लेकर एक प्रकार की मूढ़ समझ नेताओं और नौकरशाहों में पाई जाती है। मसलन कई लोग कहते मिल जाएंगे कि एक विभाग में क्या ज़रूरी है कि दस बीस अध्यापक हों। क्यों नहीं एक ही अध्यापक दिन में चार कक्षाएं ले सकता। विशेषज्ञता का तर्क उन्हें नकली और बकवास लगता है।
- विश्वविद्यालयों में इतने किस्म के दफ्तरी काम हैं जो अब शिक्षकों के हवाले कर दिए गए हैं। सचिव स्तर की सहायता कम से कम की जा रही है। इस वजह से आपको अध्यापक वे काम करते मिल जाएंगे जो पहले कार्यालय में सचिव किया करते थे।

- भारत में अध्यापकों के काम को ठीक तरीके से समझा नहीं गया है. इसलिए केंद्रीय संस्थाओं को यदि छोड़ दें तो राज्यों में अवकाश में लगातार कटौती और तनखाह पर सरकारी निगाह की सख्ती बढ़ती चली जाती है. प्रायः राज्य सरकारें उन्हें सरकारी कर्मचारियों के बराबर वेतन के लायक नहीं मानतीं. बहुत रो-धोकर और हील-हुज्जत के बाद वे केंद्रीय वेतन आयोग की सिफारिशों को उनके लिए लागू करने पर तैयार हो पाती हैं.
- शिक्षक को एक कक्षा के लिए चार से छ घंटे की तैयारी चाहिए और एक बार की तैयारी काफी नहीं, यह समझाना भी कठिन है. बाहर के अध्यापक यह सुनकर हैरान हो जाते हैं कि यहां एक अध्यापक के पास दस कक्षाएं हैं!

अध्यापन क्यों एक अलग किस्म का काम है? क्यों ज्ञान का स्थानांतरण मात्र पर्याप्त नहीं? ज्ञान सृजन उनका प्राथमिक दायित्व है. किसी भी क्षेत्र में ज्ञान की अब तक उपलब्ध सामग्री से छात्रों को परिचित कराना उनका काम ज़रूर है लेकिन उसके साथ अपना संबंध बनाना और उसके प्रति अपना नज़रिया विकसित करना एक ज़्यादा श्रम साध्य काम है और मौलिकता वहां पैदा होती है. इसलिए जो यह समझते हैं कि पीएचडी के बाद फिर पढ़ने की ज़रूरत नहीं, वे ज्ञान के व्यापार की समझ नहीं रखते. वैसे उनकी इस समझ के लिए हम अध्यापक भी जिम्मेदार हैं क्योंकि साल दर साल हममें से कई एक ही बात दुहराते चले जाते हैं.

नएपन और ताजगी के लिए शोध और निरंतर अध्ययन आवश्यक है और उसके लिए संसाधन चाहिए. क्यों हमारे प्रबंधन संस्थान या आईआईटी अपने शिक्षकों के लिए ये साधन मुहैया करा सकते हैं और क्यों विश्वविद्यालय नहीं? क्यों राज्यों के शिक्षकों के लिए इस प्रकार की बात सपना ही है?

- अध्यापक नामक संस्था का निरंतर क्षरण आम चर्चा का विषय होना चाहिए लेकिन नहीं हो पाता.
- राज्यों में ढाई सौ रुपया प्रति कक्षा या पंद्रह से पच्चीस हजार रुपया प्रति माह पर सेवानिवृत्त अध्यापकों से अथवा रोजगार की तलाश में भटक रहे युवाओं से काम लेने में सरकारों को फायदा नज़र आता है और समाज को कोई उज़्र (आपत्ति) नहीं.

दिल्ली विश्वविद्यालय में यह क्षरण एक दूसरे रूप में भी दिखलाई पड़ता है. हर सत्र की शुरुआत में अध्यापकों की एक बड़ी फौज सांस रोककर इंतजार करती है कि उसे फिर से बहाल किया जाएगा या नहीं. ये खुद को और बाकी सब भी इन्हें एढॉक (तदर्थ) कहते हैं. बरसों के रोजाना इस्तेमाल के चलते यह शब्द अब हिंदी का हो चुका है. ये वे हैं जिन्हें चार-चार महीने के लिए नियुक्त किया जाता है और जिन्हें यह नहीं मालूम होता कि नए सत्र में वे वापस लिए जाएंगे या नहीं. यह अनिश्चितता उनकी आत्म छवि के साथ क्या करती है, इसपर न तो कोई शोध हुआ है न अध्ययन. जब वे काम करते भी रहते हैं तो अलग से दिखलाई पड़ते हैं और प्रशासन से लेकर स्थायी शिक्षक तक इन्हें बंधुआ मानते हैं जिनसे हर तरह का काम लिया जा सकता है.

क्यों दिल्ली विश्वविद्यालय में यह तदर्थ व्यवस्था स्थायी हो चुकी है? क्या इसमें सिर्फ प्रशासन का दोष है या सभी शिक्षक संगठनों का स्वार्थ भी उन्हें अनिश्चय में रखने में ही है ताकि वे उनके स्थायी मुवक्किल बने रह सकें जिनके लिए वे संघर्ष करते हुए दिखाई पड़ते हैं. एक वक्त था जब किसी स्थायी पद पर अस्थायी बहाली अधिकतम छह महीने के लिए ही हो सकती थी, फिर उसे स्थायी तौर पर भरना होता था लेकिन धीरे धीरे अस्थायित्व ही नियम बन गया. जब इन तदर्थ अध्यापकों को जनतांत्रिक अधिकार के नाम पर डूटा के चुनाव में मतदान का अधिकार दे दिया गया तो फिर प्रतिद्वंद्वी संगठनों के लिए वे एक ऐसा वोट बैंक बन गए जिसे वे असुरक्षित रखकर ही लाभ ले सकते हैं.

इनमें से कई स्थायी हो पाते हैं और कई नहीं। लेकिन इस क्रम में जो संस्कृति विकसित होती है वह सिर्फ इन तदर्थ अध्यापकों पर ही असर डालती हो, ऐसा नहीं। उससे कॉलेज और विश्वविद्यालय का वातावरण प्रभावित होता है। इन अध्यापकों में से अधिकतर का पूरा ध्यान स्थायित्व हासिल करने पर रहे तो इसमें क्या इन्हें दोषी माना जाए? अगर यह समझ नौजवानों में बने कि पढ़ने-लिखने से अधिक समय सही किस्म का संपर्क बनाने में लगाना चाहिए तो यह कैसे गलत है?

यह समस्या लेकिन सिर्फ भारत की नहीं। यूरोप और अमेरिका के विश्वविद्यालयों में कम से कम खर्च पर अधिक से अधिक अध्यापन का काम लेने में सरकारों और प्रशासन के यकीन से अब कुली अध्यापकों की बड़ी फौज बन चुकी है।

अध्यापकों से छुटकारा पाने का एक तरीका ऑनलाइन अध्यापन के मूक्स नामक संस्करण से पैदा हुआ है। किसी विषय के एक माहिर अध्यापक से व्याख्यानों की श्रृंखला तैयार कर उसे ऑनलाइन उपलब्ध कराने पर न इमारत की दरकार रहती है न अध्यापकों की। मात्र कुछ सहायकों से काम चल सकता है। भारत की सरकारें इससे काफी प्रभावित हुई हैं और एक विकल्प के तौर पर इसे प्रोत्साहित करने में लगी हैं। यह वे श्रेष्ठता के नाम पर कर रही हैं।

हम श्रेष्ठता के इस तर्क की जांच इससे कर सकते हैं कि जो नेता या नीति निर्माता देश की जनता के के लिए इसे लाभकारी मानते हैं तो वे क्यों अपने बच्चों को आईवी लीग (अकादमिक श्रेष्ठता का प्रतीक) विश्वविद्यालयों में भेजना चाहते हैं?

शिक्षा में काफी कुछ चर्चा करने को है लेकिन अध्यापक एक ऐसा विषय है जिसपर ठहर कर सोचने के लिए हमें समय निकालना ही चाहिए।

Indian Diaspora

1. ब्रेन ड्रेन रोकने के करने होंगे प्रयास

No institution in world ranking

बढ़ती साक्षरता और उच्च शिक्षा को लेकर बड़े-बड़े दावों के बीच यह बहुत ही चिंताजनक है कि भारतीय विश्वविद्यालय दुनिया के शीर्ष दो सौ विश्वविद्यालयों में भी नहीं गिने जाते। विश्व पटल पर देश के शैक्षणिक स्तर के लिए यह स्थिति काफी गंभीर है। एक ओर जहां हम अपने आपको विकसित और नई शक्ति के रूप में निखारने को प्रयासरत हैं, वहीं हमारे उच्च शिक्षा संस्थानों का वैश्विक पटल पर पिछड़ना राष्ट्र के लिए शर्मनाक है। बात सिर्फ इतनी ही नहीं है, देश की किसी भी यूनिवर्सिटी का वैश्विक स्तर का ना होना न केवल ब्रेन ड्रेन का कारण है बल्कि देखा जाए तो केश ड्रेन का भी।

Result: Talented people prefer foreign institution for higher learning

उच्च शिक्षा के लिए छात्र विश्व रैंकिंग में शामिल संस्थान से डिग्री लेने को प्राथमिकता देते हैं। गौरतलब है कि वर्ष 2016-17 में भारतीय छात्रों ने विदेशों में पढ़ाई पर 10 अरब डॉलर खर्च किए। इसी अवधि में हमारी केंद्र सरकार ने देश भर के उच्च शिक्षण संस्थानों के लिए जो बजट तय किया वह मात्र 29,703 करोड़ रुपए था।

हर साल बड़ी तादाद में भारतीय छात्र केवल इसीलिए विदेशों का रुख करते हैं क्योंकि हमारे विश्वविद्यालय वर्ल्ड रैंकिंग पर कहीं नहीं हैं।

इस बीच सरकार ने हाल ही एक अच्छी पहल की है-देश के प्रख्यात शिक्षण संस्थानों (आईओई) की अलग ही श्रेणी बनाना।

→ सरकार का यह कदम उच्च शिक्षा के परिदृश्य को पूर्णतः बदल सकता है। पिछले दिनों यूनिवर्सिटी ग्रांट कमीशन (यूजीसी) ने आईओई श्रेणी में शामिल करने के लिए सार्वजनिक व निजी दोनों ही प्रकार के शिक्षण संस्थानों से आवेदन आमंत्रित किए थे। विशेषज्ञों की समिति द्वारा आवेदनों की जांच परख के बाद दस सार्वजनिक व दस निजी संस्थानों का चयन कर उन्हें आईओई का दर्जा दिया जाएगा। आईओई संस्थान अप्रत्याशित रूप से प्रशासनिक और वित्तीय स्वायत्तता लिये हुए होंगे। सरकार द्वारा उन्हें कई मामलों में स्वायत्त रूप से कार्य करने की छूट होगी और ये यूजीसी के मानकों को ना मानने के लिए पूर्णतः स्वतंत्र होंगे।

→ शोध व अनुसंधान के लिए सरकार प्रत्येक सरकारी आईओई संस्थान को 1000 करोड़ रुपए प्रदान करेगी जबकि निजी संस्थान सार्वजनिक कोष का इस्तेमाल कर सकेंगे। माना जा रहा है कि आईओई समूह में शामिल यूनिवर्सिटी अगले 10-15 सालों में विश्व की शीर्ष पांच सौ यूनिवर्सिटी में तो स्थान पा ही लेंगी और धीरे-धीरे शीर्ष १०० में। अभी जो भारतीय संस्थान वर्ल्ड टॉप 500 में हैं वे हैं- द इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस (आईआईएससी), द इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी, पवई (आईआईटी-बी) और द इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी, दिल्ली (आईआईटी-डी)। उम्मीद की जा रही है शीघ्र ही ये विश्व की शीर्ष 100 यूनिवर्सिटी में स्थान बना पाने में कामयाब होंगी।

→ इनके अलावा बिट्स पिलानी, मनिपाल यूनिवर्सिटी व अमिटी यूनिवर्सिटी समेत दस निजी संस्थानों के चयन की भी संभावना है जो कि समय के साथ अपनी रैंकिंग में सुधार कर लेंगे। आईओई दर्जा हासिल करने के बाद कम से कम देश की २० यूनिवर्सिटी वर्ल्ड रैंकिंग की दौड़ में शामिल हो जाएंगी। फिलहाल उनके समक्ष अपनी रैंकिंग सुधारना ही सबसे बड़ी चुनौती है। इन चुनौतियों को तीन रूप में देखा जा सकता है। पहला, चूंकि आईओई कैडर के संस्थान से अपेक्षाएं बढ़ जाएंगी, इसलिए इन्हें अपने पिछले रिकॉर्ड को काफी हद तक सुधारना होगा। खासतौर पर शैक्षिक गुणवत्ता और अध्यापक स्टाफ के संदर्भ में। उन्हें इस बात का भी खयाल रखना होगा कि जो अध्यापक उनके संस्थान में काम कर रहे हैं, वे लंबे समय तक उनके ही संस्थान में कार्य करें ताकि आईओई समूह के अन्य संस्थान भी अपने स्टाफ में कुशल कर्मचारियों को ही शामिल करें। वर्तमान में यह सबसे बड़ी चुनौती है क्योंकि:

- आजकल कॉलेज अध्यापक देश-विदेश में बेहतर रोजगार संभावनाओं की तलाश में रहते हैं।
- दूसरा, एक और बड़ी चुनौती यह है कि मौजूदा शैक्षिक संस्कृति को किस प्रकार बदला जाए।
- यह एक प्रकार से पहली चुनौती से ही जुड़ी हुई है। इसके तहत मौजूदा शैक्षणिक वातावरण में कॉलेज प्रशासन, छात्रों और अध्यापकों के बीच नए सुझावों, अन्वेषण, मान्यताओं और सिद्धान्तों में परिवर्तन लाना होगा।

- तीसरा, तकनीकी शिक्षण संस्थानों को आईओई के लिए आवेदन की छूट देना। इन छोटे संस्थानों को इसके लिए कड़ी मशक्कत करनी पड़ेगी। हो सकता है कि विशेषज्ञों की समिति (ईईसी) इन संस्थानों को दस निजी संस्थानों की सूची से बाहर ही कर दे। भारत में विश्व रैंकिंग वाली यूनिवर्सिटी भी देश के उच्च शिक्षा जगत का भविष्य संवारने में पूर्णतः सक्षम नहीं होंगी क्योंकि यह शिक्षा जगत के नकारात्मक पहलुओं को दुरुस्त करने में खरी उतरेंगी इसमें तो संशय ही है। इसलिए यह आशंका बराबर बनी हुई है कि देसी यूनिवर्सिटी के विश्व रैंकिंग में जगह बना लेने के बावजूद

भारतीय युवा अपनी महत्वाकांक्षाओं का पीछा करते हुए पढ़ाई के लिए यूं ही विदेश जाते रहेंगे। ऐसे में केश ड्रेन रोक पाना भी संभव नहीं होगा। हालांकि यह जरूर संभव है कि हमारी यूनिवर्सिटी के विश्व रैंकिंग में आने के बाद हम अपना सिर गर्व से ऊंचा कर सकें। एक और उम्मीद यह की जा सकती है कि भारत के उच्च शिक्षा क्षेत्र को प्रगति के पंख लग जाएं।

GOVERNANCE

1. नौकरशाही पर सख्ती

#Navbharat_Times

Recent direction by government

सरकार ने आईएएस अधिकारियों से कहा है कि वे अगला महीना खत्म होने से पहले यानी 31 जनवरी 2018 तक अपनी संपत्ति का ब्योरा जमा करा दें। ऐसा न करने वाले अधिकारियों के प्रमोशन या उनकी फॉरेन पोस्टिंग पर विचार नहीं किया जाएगा।

— एक अर्से से सरकार प्रशासनिक अधिकारियों से अपनी संपत्ति का ब्योरा देने की अपील कर रही है, लेकिन अधिकारी इसकी अनदेखी कर रहे हैं। आखिरकार सरकार ने यह सख्त रुख अपनाया है जो निश्चय ही सही दिशा में उठाया गया कदम है। हां, इस सख्ती का असर क्या होता है, इसकी जानकारी 1 फरवरी 2018 को या इसके बाद ही मिल पाएगी, बशर्ते सरकार इसे सार्वजनिक करे। प्रमोशन और फॉरेन पोस्टिंग में आईएएस अधिकारियों की दिलचस्पी होती ही है, लेकिन संपत्ति का ब्योरा देकर फंसने की आशंका हो तो ऐसे कितने अधिकारी इस फेरे में आएंगे, कहना मुश्किल है।

— दूसरी बात, जो अधिकारी ब्योरा देंगे भी, उनका ब्योरा कितना सही या गलत है, यह कैसे जाना जा सकेगा, ताजा सरकारी निर्देश इस बारे में कुछ नहीं कहता। पहली नजर में ऐसा लग सकता है कि गलत आंकड़े देकर कोई भी अपने लिए मुसीबत क्यों मोल लेगा? लेकिन हमारा सरकारी तंत्र जैसा रूप ले चुका है, उसे देखते हुए यह आशंका बनी हुई है कि अधिकारियों द्वारा दिए गए संपत्ति के ब्योरे का इस्तेमाल ऊपर बैठे लोगों की पसंद या नापसंद के आधार पर किया जाए। नौकरशाही में फैले भ्रष्टाचार की समस्या गंभीर है, इस बात से तो कोई भी इनकार नहीं कर सकता, लेकिन इससे लड़ने के लिए अफसरशाही को प्रेरित करने का सबसे अच्छा तरीका यह था कि राजनीतिक नेतृत्व इस तरह की बंदिशें खुद पर लागू करके उसके सामने मिसाल पेश करता। यानी राजनीतिक दलों को आरटीआई के दायरे में लाया जाए, लोकपाल की नियुक्ति की जाए और सभी मंत्री आरोप लगने का इंतजार किए बगैर निश्चित अंतराल पर अपनी और अपने परिजनों की संपत्ति का ब्योरा पेश करें। मगर ऐसा कुछ नहीं हो रहा। जाहिर है, खुद को पारदर्शिता के दायरे में लाने को लेकर राजनीतिक नेतृत्व की कोई दिलचस्पी नहीं है।

बावजूद इसके, संपत्ति के खुलासे से नौकरशाही के भ्रष्टाचार पर जितनी भी लगाम लग सके, उसका स्वागत किया जाना चाहिए।

2. सुशासन में नागरिक समाज की भूमिका

Society has big role to play to execute the idea of good governance.

What is good Governance?

राज्य के नागरिकों की सेवा करने की क्षमता का अर्थ ही सुशासन है। सुशासन के अंतर्गत वे सभी नियम व कानून प्रक्रियाएं, संसाधन एवं व्यवहार शामिल हैं, जिनके द्वारा नागरिकों के मसले व्यक्त किए जाते हैं, संसाधनों का प्रबंधन किया जाता है और शक्ति का प्रयोग किया जाता है। अर्थात् राज्य द्वारा संसाधन एवं शक्ति का प्रयोग समाज के विकास एवं कल्याण के लिए किया जाता है। सुशासन को प्रभावी ढंग से लागू करने में राज्य / सरकार, बाजार एवं नागर समाज (सिविल सोसाइटी) की महत्वपूर्ण भूमिका है। नागर समाज के अंतर्गत गैर-सरकारी संगठन, नागरिक समाज के संगठन, मीडिया संगठन, एसोसिएशन, ट्रेड-यूनियन व धार्मिक संगठन आते हैं।

Role of Society to bring good Governance

सुशासन को अमल में लाने के लिए नागरिक समाज का अहम स्थान है, क्योंकि यही समाज की क्षमता में वृद्धि करते हैं और उसे जागरूक बनाते हैं। यही सरकार या राज्य को आगाह करते हैं कि कैसे नागरिकों की भागीदारी से उनका संपूर्ण विकास किया जाए। नागरिक समाज सामूहिकता को बढ़ावा देकर सहभागिता को सामाजिक जीवन का अंग बनाता है।

एनजीओ वे संस्थाएं होती हैं, जिनकी गतिविधि सरकारी या विदेशी संस्थाओं के सहयोग से चलती हैं। इन संस्थाओं को बढ़ावा देने वाले सामाजिक कार्यकर्ता सामान्यतः वे होते हैं, जिनका समाज से सरोकार होता है और वे अपने प्रारंभिक 'करियर' में सामाजिक कार्यकर्ता ही रहे। लेकिन बाद में एक संस्था बनाई, उसे पंजीकृत कराया और तीन वर्ष बिना कोई सरकारी या विदेशी सहायता लिए कार्य करते रहे, अक्सर झूठी-सच्ची 'बैलेंस-शीट' बनाते रहे और बाद में सरकारी अनुदान प्राप्त करने योग्य हो गए। ऐसी संस्थाएं सरकार एवं उसके नौकरशाहों से तालमेल करके अपनी गतिविधियां चलाती हैं। लेकिन देखने में यह आया कि ऐसी संस्थाओं में विचार तो होता है, लेकिन धार नहीं होती। संघर्ष करने की क्षमता समाप्त हो जाती है। वे अधिकतर पीपीटी/लैपटॉप व हवाई-सफर में व्यस्त रहने में ही उलझकर रह जाते हैं।

Is government strengthening Civil Societies?

गैर-सरकारी संगठनों को प्रोत्साहित करने के लिए ग्रामीण विकास मंत्रालय के अधीन लोक-कार्यक्रम एवं ग्रामीण प्रौद्योगिकी विकास परिषद (कपर्ट) है। लेकिन तीन सितंबर, 2013 को मंत्रिमंडल ने अपनी बैठक में कपर्ट को दो वर्ष के अंदर बंद करने का निर्णय लिया था। सरकार द्वारा ऐसा निर्णय लेना ही बहुत कुछ व्यक्त करता है कि कपर्ट का 'कबाड़ा' क्यों हुआ। इससे अधिक कुछ और कहने की जरूरत नहीं। इस समय जरूरत सामाजिक आंदोलनों की है। ग्रामीण समाज के लोग नेताओं एवं नौकरशाहों के रवैये से ऊब

चुके हैं। वे चाह रहे हैं कि कोई उनको साथ लेकर चले। उनके साथ सहभागितापूर्ण कार्य करे। उन्हें हर कार्य में निर्णायक बनाए। वे केवल अपना मत देने तक ही सीमित न रहें।

गांवों में यदि वास्तव में विकास करना है, तो उसके लिए एनजीओ संस्कृति को बदलना होगा। हां, इन संस्थाओं का कार्य प्रशिक्षण देकर सामाजिक कार्यकर्ता बनाना तथा उच्च-स्तर की खोज एवं दस्तावेज तैयार करना हो सकता है। ग्रामीण समाज में जागरूकता और हाशिये के लोगों को मुख्यधारा में लाने के लिए तो आंदोलन होना ही चाहिए, जिनमें वे लोग ही संचालक हों, वे ही संसाधन मुहैया कराएं एवं उसका निरीक्षण एवं मूल्यांकन करें। मताधिकार संघ इसका जीवंत उदाहरण है।

3. नौकरशाही: "Committed to whom government or constitution"

Bureaucracy & Political establishment

दुनिया भर के लोकतांत्रिक देशों में राजनीतिक नेतृत्व और नौकरशाही के रिश्ते हमेशा से ही चर्चा का विषय रहे हैं। इन रिश्तों में समय, स्थान और परिस्थितियों के हिसाब से उतार-चढ़ाव के अलग अलग दौर रहे हैं।
Bureaucracy and India

- भारत में अंग्रेजी हुकूमत के दौरान नौकरशाही का स्वरूप और प्राथमिकताएं कुछ अलग थीं। आजादी के बाद उनमें धीरे-धीरे बदलाव लाया गया। परिणामस्वरूप आजाद मुल्क में नौकरशाही के काम करने का अपना एक तरीका बना। आजादी के बाद उसे काम करने की काफी कुछ आजादी दी गई।
- इसके अलावा उसकी सेवा शर्तों को बनाते समय इस बात का विशेष ख्याल रखा गया कि नौकरशाह किसी भी प्रकार के अनावश्यक दबाव में न आएँ। नौकरशाही को केवल सरकार के अनावश्यक दबाव से ही बचाने की कोशिश नहीं की गई, बल्कि जनता या फिर निहित स्वार्थों के दबाव को भी उनसे परे रखने की कोशिश की गई। पारंपरिक तौर पर नौकरशाही का यह भारतीय मॉडल बहुत कुछ नौकरशाही के मैक्स वेबेरियन मॉडल के करीब था जो नौकरशाही के तटस्थ रहने की बात करता है। इसमें सरकारी कर्मचारी को सरकारी सेवा के नियमों के अनुसार कार्य करने की सलाह दी जाती है।

इसके विपरीत नौकरशाही का प्रतिबद्ध मॉडल नौकरशाही से सरकार की नीतियों के अनुरूप चलने की बात करता है। भारत में 1975 के आपातकाल तक तो नौकरशाही के तटस्थ रहने की बातें की जाती थी, लेकिन आपातकाल के दौरान सरकारी अधिकारियों से सरकारी नीतियों के प्रति प्रतिबद्धता की अपेक्षा की जाने लगी। दरअसल तबसे ही देश में तटस्थ और प्रतिबद्ध नौकरशाही की अवधारणा में घालमेल शुरू हो गया। इस घालमेल के चलते सत्ताधारी दलों और नौकरशाहों ने अपने-अपने हिसाब से खूब उलटबाजियां की हैं।

जहां राजनीतिक दल अपनी अलग-अलग विचारधाराओं के आधार पर वामपंथ और दक्षिणपंथ के बीच बंटे रहे वहीं नौकरशाही को भी तटस्थता और प्रतिबद्धता के रूप में दो विकल्प मिल गए हैं। इस तरह नौकरशाहों द्वारा अपनाए गए विकल्पों के आधार पर नौकरशाही की मौटे तौर पर तीन श्रेणियां बन गईं।

- पहली श्रेणी के नौकरशाह सत्ताधारी दल के साथ मिलकर चलने वाले हुए, जिन्हें सरकार बदलने से कोई फर्क नहीं पड़ता और जो दल राजनीतिक दल सत्ता में आया उसके साथ वे आंख बंद करके हो लिए।
- दूसरी श्रेणी में तटस्थता को अपना आदर्श मानकर चलने वाले सरकारी अधिकारी और कर्मचारी हैं।
- जबकि तीसरी श्रेणी बीच का रास्ता अपनाने वाले हैं। इन्हें मौकापरस्त नौकरशाह के तौर पर भी जाना

जाता है। आम धारणा यह है कि ऐसे नौकरशाहों की बन आई है। देश, काल और परिस्थितियों के हिसाब से कभी तटस्थ तो कभी प्रतिबद्ध बन जाते हैं।

एक समय पश्चिम बंगाल के नौकरशाहों को वामपंथी नीतियों के प्रति आसक्त पाया जाता था, लेकिन जब वे केंद्रीय सत्ता के तहत काम करते थे तो वे तत्कालीन सरकार की नीतियों के अनुपालन में लग जाते थे। शायद यही कारण है कि कई राज्यों में सत्ता बदलते ही नौकरशाही के रंग-ढंग बदलते नजर आने लगते हैं। यह सवाल उठना स्वाभाविक है कि आखिर नौकरशाही का कौनसा मॉडल सबसे उपयुक्त है? इसे लेकर तरह-तरह के तर्क-वितर्क दिए जाते हैं और कई बार नौकरशाहों के मामलों को लेकर बहस कुछ ज्यादा ही विवादास्पद हो जाती है। इस तरह के विवादों की परवाह न करते हुए हमें सबसे पहले यह समझना होगा कि आखिर नौकरशाही का अस्तित्व है किसके लिए?

Decline in values of Bureaucracy

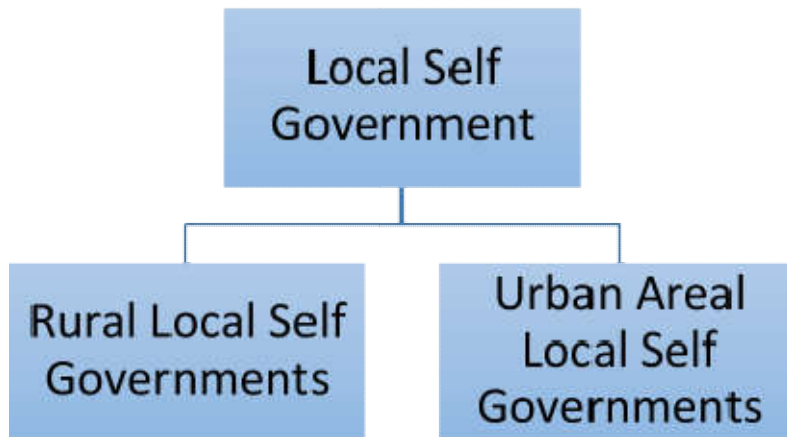
यदि नौकरशाही स्वयं अपने लिए अर्थात् अपने में ही साध्य है तब फिर उसे जो कानून-कायदे बने हुए हैं उनके हिसाब से चलना चाहिए। निःसंदेह इसमें लकीर का फकीर बने रहना भी शामिल है। कुछ नौकरशाह आज भी इस परिकल्पना को साकार करने में लगे हुए हैं, लेकिन अब इनकी संख्या दिनों-दिन घटती जा रही है। इसका कारण यह है कि सरकारों के एजेंडे में रुकावट बनने पर नौकरशाहों को एक कोने में बैठा दिया जाता है

दूसरी तरफ नौकरशाही का प्रतिबद्ध मॉडल है। आजकल यही ज्यादा प्रचलन में भी है। ऐसी नौकरशाही के पक्षधर यह दलील देते हैं कि नौकरशाही स्वयं में साध्य नहीं है, बल्कि सरकारी नीतियों के क्रियान्वयन का साधन मात्र है और उसे लोकतांत्रिक तरीके से चुनी हुई सरकारों के कामकाज में अड़ंगा नहीं बनना चाहिए। इस सिलसिले में जनता द्वारा चुनी हुई सरकारों की जनता के प्रति जवाबदेही का तर्क दिया जाता है और यहां तक कहा जाता है कि सरकारों को तो हर पांच साल में जनता के बीच जाना होता है जबकि नौकरशाही के लिए ऐसी किसी जवाबदेही की बाध्यता नहीं है। हालांकि नौकरशाह भी अपने-अपने तरीके से स्वयं को जनता के प्रति जवाबदेह ठहराने में पीछे नहीं हैं। वैसे तो इस बारे में सबके अपने-अपने तर्क हैं, लेकिन तथ्य यह है कि केवल तर्कों से लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को चरितार्थ नहीं किया जा सकता। इसके लिए कम-से-कम इस बात पर तो सहमत होना ही पड़ेगा कि चाहे सरकार हो या नौकरशाही, वह है तो जनता के लिए ही। जब अब्राहम लिंकन ने सदियों पहले लोकतंत्र की परिभाषा 'जनता की, जनता के द्वारा और जनता के लिए शासन व्यवस्था' के रूप में दी थी तो उसके केंद्र में भी जनता-जनार्दन को ही रखा गया था। इसलिए सबसे जरूरी है जन-कल्याण, जिसकी उपेक्षा न कोई निर्वाचित सरकार कर सकती है और न ही नौकरशाही का कोई भी मॉडल।

राजनीतिक दल अपने घोषणापत्र के आधार पर जन समर्थन पाते हैं और जिन नीतियों को जनता का समर्थन प्राप्त हो उनके मार्ग में किसी के भी बाधा बनने का कोई औचित्य नहीं है। यदि किसी राजनीतिक दल ने एक रुपये किलो चावल अथवा टीवी या स्कूटी देने का वादा किया है और इन वादों के दम पर वह दल सत्ता में आ गया है और वह अपने इन वादों को पूरा भी करना चाहता है तो ऐसे में नौकरशाही के पास जनभावना के अनुरूप न चलने का विकल्प नहीं रह जाता है। ऐसे वादों को पूरा करने के लिए संसाधनों के प्रबंध में आने वाली कठिनाइयों के बारे में राजनीतिक नेतृत्व को साफ-साफ बताना नौकरशाही की जिम्मेदारी जरूर है

ताकि सरकार को आर्थिक स्थिति के बारे में किसी प्रकार का मुगालता न रहे, लेकिन राजनीतिक नेतृत्व को भी परिपक्वता के साथ वस्तुस्थिति के बारे में सुनने का साहस होना चाहिए। यदि समन्वय का अभाव होगा तो संतुलन बिगड़ेगा और फिर मामला हाथापाई तक भी जा सकता है। राजनीतिक नेतृत्व को यह याद रखना ही होगा कि जनता ने उन्हें किसलिए जनादेश दिया है और जनता के प्रति उनकी क्या जवा

4. तीसरी सरकार की तरह बनें नगर निकाय



Recent Context

हाल में उत्तर-प्रदेश में नगर-पंचायतों, नगर-पालिकाओं और नगर निगमों के सदस्य एवं अध्यक्षों के चुनाव संपन्न हुए। बेहतर हो कि अब सभी जीते प्रत्याशी एवं संबंधित राजनीतिक दल इस पर गौर करें कि इन संस्थाओं का एजेंडा क्यों हो?

यह इसलिए जरूरी है, क्योंकि विभिन्न प्रत्याशियों ने लोगों से जो वादे किए हैं वे जो वास्तव में होने चाहिए या जिसकी जरूरत है उनसे कोसों दूर नजर आ रहे हैं। यही अन्य राज्यों में भी होता है। उदाहरण के लिए लगभग सभी प्रत्याशी पानी, गली, नाली, स्वच्छता, भ्रष्टाचार से मुक्ति, सड़क, यातायात की सुविधा, जाम से मुक्ति आदि की बातें करते हैं। वे ऐसा इसलिए करते हैं, क्योंकि उनमें इससे आगे की सोच ही नहीं है। इस मामले में सभी राज्यों में एक जैसी स्थिति दिखती है। जबराजनीतिक दल इन चुनावों में खुले रूप से भाग लेने लगे हैं तब संविधान में इन निकायों से क्या उम्मीद है, इसका जिक्र भी उन्हें करना चाहिए, लेकिन वह कहीं पर भी नजर नहीं आता।

Constitutional provision

- 74वें संविधान संशोधन की धारा 243 (ब) के अनुसार नगरपालिकाएं आर्थिक विकास एवं सामाजिक न्याय की योजनाएं तैयार करेंगी और विभिन्न कार्यों एवं योजनाओं के अलावा संविधान की 12वीं अनुसूची में सूचीबद्ध विषयों से संबंधित योजनाओं को भी लागू करेंगी।
- 12वीं अनुसूची में 18 विभिन्न विषय हैं। ये 18 विषय नगरीय-योजना, भूमि उपयोग का विनियमन और भवनों के निर्माण, आर्थिक एवं सामाजिक विकास योजना, सड़कें और पुल, जल-आपूर्ति, स्वास्थ्य, सफाई एवं कूड़ा-करकट के निस्तारण का प्रबंधन, गरीब बस्तियों का सुधार, निर्धनता उन्मूलन, नगरीय

सुविधाएं, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक विकास, शव निस्तारण, पशुओं के प्रति क्रूरता की रोकथाम, जन्म-मरण के आंकड़ों का उचित आकलन, सार्वजनिक सुख-सुविधाएं जैसे-सड़क, प्रकाश (बिजली), पार्किंग आदि हैं। इसका अर्थ है कि नगर निकाय अपने स्तर पर आर्थिक विकास की ऐसी योजनाएं बनाएगा कि लोगों के जीवन में आर्थिक समृद्धि आए। इसके साथ-साथ वह यह भी देखेगा कि क्या इस समृद्धि का लाभ नगरीय समाज में हाशिये पर रह रहे लोगों को भी मिल रहा है या नहीं? इसी तरह यह भी देखने की जिम्मेदारी है कि नगरीय क्षेत्र के पिछड़े इलाकों को भी लाभ हो रहा है या नहीं?

- उपरोक्त कार्यों के निपटान के लिए जो आवश्यक समितियां बनाई जाएंगी उनको भी उचित अधिकार एवं शक्तियां प्रदान करनी होंगी ताकि नगर का आर्थिक विकास सामाजिक न्याय के साथ निरंतर चलता रहे। नगर निकायों के प्रभावी संचालन के लिए लोगों की भागीदारी भी आवश्यक है, क्योंकि इन नगर निकायों का नगरीय क्षेत्र में एवं पंचायतों का ग्रामीण क्षेत्र में गठन ही इसीलिए हुआ है कि आर्थिक विकास जो सामाजिक न्याय पर आधारित है उसमें लोगों की स्पष्ट भागीदारी हो। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर संविधान की धारा 243 (घ) में जहां पर नगर निकाय की जनसंख्या तीन लाख से अधिक है वहां वार्ड-समितियों के गठन की बात कही गई है।

Role of committees

वास्तव में समितियां संपूर्ण नगरीय सरकार का दिल एवं दिमाग होती हैं, क्योंकि सही मायनों में स्थानीय स्तर की क्या-क्या समस्याएं हैं और उनको कैसे दूर किया जा सकता है, यह इन्हें ही भलीभांति पता होता है। नगर निकायों के पास अपने संसाधनों के अलावा विभिन्न राज्य, केंद्र सरकार, राज्य वित्त आयोग एवं केंद्रीय वित्त आयोग से भी संसाधन हस्तांतरित होते हैं। उदाहरण के लिए 14वें वित्त आयोग द्वारा 2015-2020 के दौरान उत्तर-प्रदेश के नगर निकायों को 10249.21 करोड़ रुपये हस्तांतरित होने हैं। इस अनुदान के दो हिस्से हैं। एक है 'बेसिक' अनुदान एवं दूसरा है 'परफॉर्मेंस अनुदान'। दूसरे अनुदान के लिए नगर निकाय को अपना हिसाब-किताब सही रखना होगा एवं कम से कम 10 प्रतिशत अतिरिक्त अपने स्वयं के संसाधन जुटाने होंगे।

- संविधान की धारा 243 (घ) के अनुसार जिला योजना समिति का भी गठन होना चाहिए। यह समिति ग्रामीण क्षेत्र की योजनाओं को नगर क्षेत्र की योजनाओं के साथ एकीकृत कर संपूर्ण जिले की योजना का मसौदा तैयार करेगी और अनुमोदन के लिए राज्य सरकार के समक्ष प्रस्तुत करेगी।
- इसी प्रकार महानगरों में महानगर योजना समिति गठन करने का प्रावधान है। उत्तर प्रदेश की बात करें तो यहां नगर पालिकाओं में सदस्य एवं अध्यक्ष के रूप में 12628 प्रतिनिधि चुनकर आए हैं। इनमें तमाम उस राजनीतिक दल से जुड़े हैं जिसकी प्रदेश में सरकार है अर्थात् भाजपा। इन सभी को मिल कर राज्य सरकार से मांग करनी चाहिए कि नगर निकायों को तीसरी सरकार का दर्जा दिया जाए, जैसा कि संविधान में इनके बारे में कहा गया है।

यही काम सभी राज्यों के स्थानीय निकायों के चुनावों में जीत हासिल करने वालों को करनी चाहिए, वे चाहे जिस भी राजनीतिक दल के हों। हर राज्य के निकाय संस्थानों के पास पर्याप्त मात्र में अच्छी तरह परिभाषित-कार्य और कार्य करने के लिए आवश्यक वित्त एवं पर्याप्त कर्मचारी होने जरूरी हैं। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक उनकी महत्ता नहीं स्थापित होगी और जीते प्रतिनिधि अपने वायदे भी पूरे नहीं कर पाएंगे।

5. क्यों विशेष अदालतों के जरिए अपराधियों को राजनीति से दूर करना उतना आसान नहीं है जितना दिखता है

Recent context

केंद्र सरकार ने 1,581 दागी जनप्रतिनिधियों (सांसद-विधायक) के खिलाफ मुकदमों में तेजी लाने के लिए 12 विशेष अदालतों के गठन को मंजूरी दे दी है. सरकार का यह कदम ऐसे सांसद-विधायकों के मामले में आए सुप्रीम कोर्ट एक अहम फैसले को आगे बढ़ाने वाला साबित होगा. सुप्रीम कोर्ट ने 2013 में जनप्रतिनिधित्व कानून की उस धारा को असंवैधानिक करार दिया था जिसके तहत निचली अदालतों द्वारा दोषी ठहराए गए सांसद-विधायक पद के लिए तुरंत अयोग्य घोषित नहीं होते थे. यह प्रावधान दोषियों को हाई कोर्ट में अपील करने के लिए तीन महीने की मोहलत देता था और यहां से स्टे मिलने पर ये पद पर बने रह सकते थे

- सुप्रीम कोर्ट के उस फैसले के बाद भ्रष्टाचार के मामलों में दोषी करार दिए गए लालू प्रसाद यादव और जयललिता जैसे नेता चुनाव लड़ने और पद पर बने रहने के लिए अयोग्य हो गए थे. तब यह जरूरत महसूस की गई थी कि ऐसे मामलों में आपराधिक न्याय प्रणाली के तहत जांच, आरोपों का तय होना और सुनवाई का काम तेजी से होना चाहिए ताकि जल्दी से जल्दी मुकदमों का निपटारा हो सके.
- 2014 में सुप्रीम कोर्ट ने आदेश दिया था कि निचली अदालतें सांसद-विधायकों से जुड़े मामलों की रोजाना सुनवाई करें ताकि आरोप एक साल के भीतर तय किए जा सकें. हालांकि सरकार द्वारा पहल न होने की वजह से इस पर कोई कार्रवाई नहीं हो पाई. लेकिन अब केंद्र ने विशेष अदालतों के गठन को मंजूरी दे दी है और इससे उम्मीद की जा सकती है कि भारतीय राजनीति जल्दी से जल्दी दागी जनप्रतिनिधियों से मुक्त हो जाएगी.

भारतीय राजनीति में दागी सांसद-विधायकों की बात करें तो सरकार के पास तक इनके पुख्ता आंकड़े नहीं हैं. सरकार के साथ-साथ आम लोगों के पास अभी जो जानकारियां मौजूद हैं वे एक गैर-सरकारी संगठन एसोसिएशन फॉर डेमोक्रेटिक रिफॉर्म्स द्वारा तैयार की गई हैं. यह संगठन सांसद-विधायकों के चुनावी हलफनामों के विश्लेषण के आधार पर इससे जुड़े आंकड़े तैयार करता है.

At present Corrupt representative in Indian Politics

अब जब केंद्र सरकार ने यह पहल कर दी है तब इस मामले राज्य सरकारों को भी कड़ी परीक्षा से गुजरना होगा. इस समय कुल 4,078 विधायकों में से 1,353 दागी हैं और इन्हें न्याय के कटघरे में खड़ा करने के लिए राज्यों को भी पारदर्शी और ईमानदारी भरा रवैया दिखाना होगा.

Is this path easy?

हालांकि इस पूरे मामले में अदालतों का गठन सबसे आसान काम है. यहां एक बड़ी मुश्किल स्थानीय पुलिस और अभियोजन पक्ष के सामने पेश आनी है क्योंकि उसे अदालतों में उन लोगों के खिलाफ आरोपपत्र दाखिल करने हैं और मुकदमा शुरू करवाना है जो राजनीतिक रूप से काफी ताकतवर हैं. वहीं दूसरी तरफ इनमें से कइयों के साथ भारी जनसमर्थन भी है.

विशेष अदालतों में सबसे पहले गंभीर अपराध जैसे हत्या, हत्या की कोशिश, यौन शोषण, बलात्कार या भ्रष्टाचार के आरोपित सांसद-विधायकों पर मुकदमे चलने चाहिए. देश में इस समय ऐसे 993 जनप्रतिनिधि हैं. दरअसल नेता विरोध प्रदर्शनों में आए दिन भाग लेते हैं और इस दौरान उनपर कई मुकदमे भी दर्ज होते हैं. इनके निपटारे के लिए कोई अलग व्यवस्था हो सकती है. लेकिन आखिरी बात यही है कि राजनीति में घुसे आपराधिक तत्वों के हर चुनाव के बाद संसद-विधानसभाओं में पहुंचने का यह दुष्चक्र टूटना ही चाहिए.

Centre-state relation

1.विशेष राज्य (Special status) का दर्जा किस आधार पर दिया जाता है और इसमें क्या सुविधाएँ मिलती हैं?

भारत के संविधान में लिखा है कि भारत एक राज्यों का संघ है. इस समय भारत में 29 राज्य और 7 केंद्र शासित प्रदेश हैं. इन सभी राज्यों को केंद्र सरकार की ओर से हर 5 साल के अन्तराल पर गठित किये जाने वाले वित्त आयोग की सिफारिशों के आधार पर केंद्र के करों में हिस्सा दिया जाता है; जिसे राज्य अपने विकास कार्यों और राज्य मशीनरी को ठीक से चलाने के लिए खर्च करता है. वित्त आयोग द्वारा दिए जाने वाले हिस्से से अलग केंद्र सरकार किसी राज्य को और अधिक वित्तीय सहायता देता है. वर्तमान में भारत के 29 राज्यों में से 11 राज्यों को विशेष राज्य का दर्जा मिला हुआ है और 5 अन्य राज्य इस दर्जे की मांग कर रहे हैं.

विशेष राज्य का दर्जा कैसे दिया जाता है?

वर्ष 1969 में पांचवे वित्त आयोग (अध्यक्ष महावीर त्यागी) ने गाडगिल फोर्मुले के आधार पर 3 राज्यों (जम्मू&कश्मीर, असम और नागालैंड) को विशेष राज्य का दर्जा दिया था. इन तीनों ही राज्यों को विशेष दर्जा देने का कारण इन राज्यों का सामाजिक, आर्थिक और भौगोलिक पिछड़ापन था. राष्ट्रीय विकास परिषद् ने राज्यों को विशेष दर्जा देने के लिए निम्न मापदंडों को बनाया है.

- जिस प्रदेश में संसाधनों की कमी हो
- कम प्रति व्यक्ति आय हो
- राज्य की आय कम हो
- जनजातीय आबादी का बड़ा हिस्सा हो
- पहाड़ी और दुर्गम इलाके में स्थित हो
- कम जनसंख्या घनत्व
- प्रतिकूल स्थान
- अंतरराष्ट्रीय सीमा के पास स्थित होना

विशेष राज्य का दर्जा मिलने पर क्या फायदा मिलता है?

किसी राज्य को विशेष राज्य का दर्जा मिलने पर निम्न लाभ केंद्र सरकार की तरफ से प्राप्त होते हैं.

1. विशेष दर्जा प्राप्त राज्यों को उत्पादन कर (Excise duty), सीमा कर(Custom duty), निगम कर (Corporation tax), आयकर (Income tax) के साथ अन्य करों में भी छूट दी जाती है.

- जिन राज्यों को विशेष राज्य का दर्जा दिया जाता है उनको जितनी राशि केंद्र सरकार द्वारा दी जाती है उसका 90% अनुदान (grant) के रूप में और बकाया 10% बिना ब्याज के कर्ज के रूप में दिया जाता है। इसके अलावा अन्य राज्यों को केंद्र की आर्थिक सहायता का 70% हिस्सा कर्ज के रूप में (इस धन पर ब्याज देना पड़ता है) और बकाया का 30% अनुदान के रूप में दिया जाता है
- यहाँ पर यह बताना जरूरी है कि जो राशि केंद्र सरकार से राज्य सरकार को अनुदान के रूप में दी जाती है उस राशि को केंद्र सरकार को वापस लौटाना नहीं पड़ता है, लेकिन जो राशि उधार के तौर पर राज्यों को दी जाती है उस पर राज्य सरकार को ब्याज देना पड़ता है
- केन्द्र के सकल बजट में नियोजित खर्च (planned expenditure) का लगभग 30% हिस्सा उन राज्यों को दिया जाता है जिनको विशेष श्रेणी के राज्यों में रखा गया है।
- विशेष दर्जा प्राप्त राज्यों को ऋण स्वैपिंग स्कीम और ऋण राहत योजनाओं का लाभ भी मिलता है
- विशेष दर्जा प्राप्त जो राज्य; एक वित्त वर्ष में पूरा आवंटित पैसा खर्च नहीं कर पाते हैं उनको यह पैसा अगले वित्त वर्ष के लिए जारी कर दिया जाता है।

वर्तमान में किन राज्यों को विशेष राज्य का दर्जा प्राप्त है?

मणिपुर, मेघालय, मिजोरम, अरुणाचल प्रदेश, त्रिपुरा, सिक्किम, उत्तराखंड, हिमाचल प्रदेश, असम, जम्मू&कश्मीर, नागालैंड

निम्न 5 राज्य विशेष राज्य के दर्जे को लेकर आंदोलित हैं:

. बिहार, आन्ध्र प्रदेश, राजस्थान, गोवा, ओडिशा

अन्य राज्यों को विशेष राज्य का दर्जा क्यों नहीं मिल रहा है.

वित्त मंत्री अरुण जेटली का तर्क है कि 14 वें वित्त आयोग (Y.V रेड्डी के अध्यक्षता में गठित) की सिफारिशें सौपी जा चुकी हैं; इसलिए अब इसकी सिफारिशों में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। इस कारण अब विशेष राज्य का किसी अन्य राज्य को नहीं दिया जा सकता है।

2. भाषाई आधार पर राज्यों का गठन

UPSC Question:

Has the formation of linguistic States strengthened the cause of Indian Unity?
क्या भाषाई राज्यों के गठन ने भारतीय एकता के उद्देश्य को मजबूती प्रदान की है ?

#Satyagrah

इंग्लैंड की गवर्नर काउंसिल के मेंबर और लेखक जॉन स्टेची ने 1882 में प्रकाशित अपनी किताब 'इंडिया' में लिखा है, 'हिंदुस्तान कोई एक देश नहीं है। यह कई देशों का महाद्वीप है। आप स्कॉटलैंड और स्पेन में समानता देख सकते हैं पर बंगाल और पंजाब बिलकुल अलग-अलग हैं।' कुछ ऐसी ही किताबों की मदद से ब्रिटिश इंडिया के आईसीएस अफसरों को भारत समझाया जाता था और इसी से बनीसमझ के आधार पर ईस्ट इंडिया कंपनी और ब्रिटिश सरकार 190 साल तक इस देश में जोड़-घटा-गुणा-भाग करती रही और जाते-जाते इसी आधार पर बंटवारा भी कर दिया गया। धर्म के आधार पर विभाजन के बाद भारत में एक और विभाजन हुआ था। इस बार इसका कारण भाषा बनी थी। साल था 1953 था और भाषा के आधार पर बनने वाला यह राज्य था आंध्र प्रदेश।

तब देश का राजनीतिक नक्शा

- उस वक़्त देश में तीन श्रेणी के राज्य थे. पहली में वे नौ राज्य थे जो तत्कालीन ब्रिटिश सरकार में गवर्नर के अधीन थे और जो अब निर्वाचित गवर्नर और विधानपालिका द्वारा शासित थे. इनमें असम, बिहार, मध्य प्रदेश (मध्य प्रान्त और बिहार), मद्रास, उड़ीसा, पंजाब और उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल और बॉम्बे आते थे.
- दूसरी श्रेणी उन राज्यों की थी जो पहले रियासतदारों के अधीन थे और जिन्हें अब राज प्रमुख और विधान पालिकाएं संभाल रही थीं. इनमें, मैसूर, पटियाला, पूर्वी पंजाब, हैदराबाद, राजस्थान, सौराष्ट्र, त्रावनकोर थे.
- तीसरी पंक्ति के राज्य वे थे जो पहले चीफ कमिश्नर या किसी राजा द्वारा शासित थे और अब राष्ट्रपति की अनुशंसा पर बने चीफ कमिश्नरों द्वारा शासित थे. इनमें अजमेर, भोपाल, बिलासपुर, कुर्ग, दिल्ली, हिमाचल त्रिपुरा, कच्छ, मणिपुर और विन्ध्य प्रदेश थे.
- और अंत में अंडमान निकोबार के द्वीप थे जो लेफ्टिनेंट गवर्नर द्वारा शासित थे.

भाषाई प्रान्तों पर महात्मा गांधी के विचार

- कांग्रेस ने अपने मैनिफेस्टो में घोषणा की थी कि आजादी के बाद भाषा के आधार पर प्रान्तों का गठन किया जाएगा. यह बात सन 1917 की है और इसी साल मद्रास प्रेसीडेंसी के तहत आंध्र वृत्त का गठन हुआ था. कांग्रेस इसके ज़रिये अपने संगठन को मजबूत करना चाहती थी.
- इस अवधारणा को महात्मा गांधी का भी आशीर्वाद था और आजादी के तुरंत बाद उन्होंने पत्र लिखकर इस को अमल में आते देखने की इच्छा ज़ाहिर की. पर पहले उन्होंने राष्ट्र के स्थिर होने देने पर ज़ोर दिया.

नेहरू और पटेल के विचार

- आजादी से पहले जवाहरलाल नेहरू भी इस अवधारणा के पक्ष में थे पर बाद में उनके ख्याल कुछ बदल गए.
- उनके मुताबिक हाल ही में देश का धर्म के आधार पर विभाजन हुआ है और दूसरा विभाजन, जो कि भाषा के आधार पर होगा, देश को तोड़ देगा. स्थिरता को नेहरू ने भी तरजीह दी.
- **सरदार वल्लभभाई पटेल** भी कुछ ऐसी ही राय रखते थे. आखिर, विभाजन से पैदा हुई पीड़ा को उनसे बेहतर कौन समझ सकता था. गांधी, नेहरू या फिर पटेल में आपसी मतभेद कई बार होते थे पर जहां बात राष्ट्र हित की आ जाती थी, कमोबेश ये लोग एक ही राय रखते थे.
- जून 1948 में पटेल के कहने पर राजेन्द्र प्रसाद ने प्रांतीय भाषा कमीशन का गठन किया जिसमें रिटायर्ड जज (एसके डार), वकील और एक सेवानिवृत्त आईसीएस अफसर थे. इस कमीशन से इस मुद्दे पर राय मांगी गयी जो उसने छह महीने में ही दे दी. तब कमीशन कम समय में रिपोर्ट दे देते थे!

Dhar Commission

Views: डार कमीशन ने स्वीकारा कि यह जनभावना से जुड़ा मुद्दा जरूर है पर उसने इसे यह कहकर खारिज कर दिया कि यह देश हित में नहीं है. इससे जनता के साथ-

साथ कई राजनैतिक लोग भी आहत हो गए. तब फिर कांग्रेस के जयपुर अधिवेशन में 'जेवीपी' कमेटी बनायी गयी. नेहरू और पटेल के अलावा पट्टाभि सीतारमैया इसके सदस्य थे. इसने भी भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन को विभाजनकारी बताकर खारिज कर दिया.

चक्रवर्ती राजगोपालाचारी का बयान

- विद्वान सी राजगोपालाचारी यानी राजाजी भी इस मुद्दे पर पटेल और नेहरू के साथ खड़े थे. राजाजी ने तो, दक्षिण के लोगों के विपरीत जाकर, हिंदी को राष्ट्र भाषा बनाने में नेहरू का साथ दिया था. 1937 में जब राजाजी मद्रास प्रेसिडेंसी के अध्यक्ष थे तब उन्होंने कई सारे दक्षिण के स्कूलों में हिंदी को अनिवार्य किया. उन पर लिखी गयी जीवनी में राममोहन गांधी बताते हैं कि राजाजी हिंदी कोकेले के पत्ते पर चटनी के माफ़िक मानते थे-चखो या छोड़ दो, कोई खास फ़र्क नहीं पड़ेगा.
- राजाजी का सेंस ऑफ़ ह्यूमर भी कमाल का था. साठ के दशक में जब हिंदी को राष्ट्र भाषा बनाने पर देश भर में बवाल मचा हुआ था तब एक पत्रकार ने जब उनसे 'उत्तर-दक्षिण मतभेद' मसले पर राय मांगी. उन्होंने चिरपरिचित अंदाज़ में कहा कि 'सारी ग़लती जियोग्राफ़रों की है जिन्होंने नक्शे में उत्तर को दक्षिण के ऊपर रख दिया है. उल्टा कर दीजिये, सब ठीक हो जाएगा.'

बीआर अंबेडकर की राय

अंबेडकर ने डार कमीशन को भाषा के आधार पर राज्यों के गठन के हक़ में अपनी राय दी. उन्होंने 'एक राज्य एक भाषा का सिद्धांत रखा.' अंबेडकर महाराष्ट्र का गठन चाहते थे जिसकी राजधानी मुंबई (तब बॉम्बे) हो. हालांकि, कुछ उद्योगपति जैसे जेआरडी टाटा या पुरुषोत्तम दास मुंबई को भाषा के आधार पर महाराष्ट्र में जाने नहीं देना चाहते थे.

Who raised voice first

पचास के दशक में देश में भाषा के आधार पर तीन जगहों पर राज्यों के गठन के लिए आंदोलन शुरू हुआ. ये तीन भाषाएं थीं -पंजाबी, मराठी और तेलुगू.

- 1952 के पहले आम चुनाव में यूं तो कांग्रेस भारी मतों से जीती थी. पार्टी लोकसभा की 489 में से 324 सीटें जीतने में कामयाब रही. उधर राज्यों की विधानसभा में भी उसका प्रदर्शन शानदार रहा. कुल 3280 सीटों में से कांग्रेस ने 2247 पर जीत हासिल की. हैरत की बात यह है कि राज्यों में कांग्रेस की जीत केंद्र से बड़ी थी.
- हालांकि मद्रास प्रांत में कुछ खास कमाल नहीं हुआ था. मद्रास में जवाहरलाल नेहरू को अपने खिलाफ़ लोग खड़े हुए मिले. अन्य मांगों के अलावा, प्रमुख मांग थी- 'हमें आंध्र चाहिए.' लेकिन नेहरू इसके लिए राज़ी नहीं थे. नतीजा यह हुआ कि विधानसभा की कुल 145 सीटों में से कांग्रेस को महज़ 43 सीट ही मिली थीं. अन्य सीटें उन पार्टियों को मिलीं जो आंध्र आंदोलन को हवा दे रही थीं. चुनावों का परिणाम तस्वीर बयान कर रहा था, नेहरू फिर भी इसकी अनदेखी कर रहे थे.

विशालांध्र के लिए आंदोलन और नेहरू की बेरुखी

बात तो उठ चुकी थी, लिहाज़ा देशभर में प्रदर्शन होने लगे. हर भाषा के लोग अलग राज्य की मांग करने लगे. इनमें से सबसे ज़्यादा मुखर आंदोलन तेलुगू भाषाई लोगों का था और इनकी अगुवाई करनेवाले थे कांग्रेस पार्टी के सीताराम स्वामी. वे प्रभावशाली व्यक्ति थे. आंध्र की मांग को लेकर उन्होंने भूख हड़ताल भी की जो विनोबा भावे के कहने पर तोड़ी. विशालांध्र की मांग तेज़ होने लगी थी.

चुनाव परिणाम से उत्साहित होकर सीताराम स्वामी ने पूरे प्रान्त का दौरा किया और आंध्र आंदोलन को जिंदा रखा. दो लोग अभी भी उनकी बात को नहीं मान रहे थे. पहले, मद्रास के मुख्यमंत्री राजाजी और दूसरे, नेहरू. और इस पर तो कतई नहीं कि अगर आंध्र बना भी तो उसे मद्रास मिलेगा. इस बात ने तेलुगू भाषियों को और भी आहत कर दिया. आपको बताते चलें कि तेलुगू हिंदी के बाद सबसे ज़्यादा बोले जाने वाली दो भाषाओं में से एक है. यही स्थिति तब भी थी.

खैर, इधर कम्युनिस्ट पार्टी के पी सुन्दरैया ने राज्य सभा में आंध्र प्रदेश के गठन के लिए बिल पेश कर दिया और अपने भाषण में कहा कि भाषा के आधार पर बने राज्यों से देश को मज़बूती ही मिलेगी. लेकिन जवाहर लाल नेहरू का रुख इनकार का ही था.

गांधी के अनुयायी पोट्टी श्रीरामुलु का सत्याग्रह

नेहरू की बेरुखी ने आंदोलन को बहुत तेज़ कर दिया. 19 अक्टूबर, 1952 को गांधी के अनन्य अनुयायी और सत्याग्रही पोट्टी श्रीरामुलु ने मद्रास में भूख हड़ताल का ऐलान कर दिया. आजादी के पहले श्रीरामुलु ने दलितों को मंदिरों में प्रवेश की अनुमति देने के लिए एक बार भूख हड़ताल की थी जो गांधी की समझाइश पर ही खत्म हुई थी. उनके जुनून से गांधी भी हैरान थे. 1952 में गांधी नहीं थे जो समझाते. पोट्टी श्रीरामुलु एक एक दिन करके आगे बढ़ते गए.

भूख हड़ताल के पचासवें दिन, यानी सात दिसंबर के बाद से श्रीरामुलु की हालत तेजी से बिगड़ने लगी और उधर राज्यसभा में गतिविधियां तेज़ हो गईं. केंद्र में भी तत्कालीन उपराष्ट्रपति, श्रम मंत्री, वीवीगिरी आदि सभी ने उनतक टेलीग्राम या नुमाइंदे भेजकर समझाने की कोशिश की. वे नहीं माने.

10 दिसंबर को हैदराबाद के मुख्यमंत्री बी रामकृष्ण राव ने श्रीरामुलु भूख हड़ताल और मरणासन्न स्थिति से देश में हालत बिगड़ जाने का वास्ता दिया. उन्होंने श्रीरामुलु को यकीन दिलाया कि वे नेहरू को मना लेंगे और उन्हें भूख हड़ताल खत्म कर देनी चाहिए. वे तब भी नहीं माने. आखिरकार, 15 दिसंबर को उनकी हालत बेहद खराब हो गयी और उनकी मृत्यु हो गयी. इसके बाद तो पूरे दक्षिण में हालात खराब हो गए. आंदोलन, धरने और आगज़नी के चलते स्थिति यह हो गई कि दो दिन में ही नेहरू ने आंध्र के बनने की मांग मंजूर कर ली.

‘इंडिया आफ्टर गांधी’ में रामचंद्र गुहा लिखते हैं कि इन पूरे दिनों में नेहरू ने लगभग पूरे देश का दौरा किया और 132 सभाएं कीं जिनमें भाषा के अलावा वे हर विषय पर बोले. आखिरकार राज्य पुनर्गठन कमेटी बनायी गयी और एक अक्टूबर 1953 को मद्रास राज्य में से 14 जिलों को हटाकर आंध्र प्रदेश बनाया गया. बाद में कुछ और जिले इसमें मिलाए गए. कमेटी की सिफारिशों और जनता के भावनात्मक जुड़ाव को देखते हुए महाराष्ट्र और बाद में अन्य राज्य भी अस्तित्व में आने लगे. हालांकि तमाम कोशिशों के बाद भी पंजाब पर नेहरू मेहरबान नहीं हुए. 1966 में पंजाब का गठन हुआ पर तब तक वहां देर हो चुकी थी. पंजाब में असंतोष का माहौल पनप गया था जो बाद में आतंकवाद का कारण बना.

भाषाई आधार पर राज्य बनाने को जवाहरलाल नेहरू विघटन का कारण समझते रहे जबकि महात्मा गांधी इसे देश को जोड़ने की सबसे मज़बूत कड़ी मानते थे. रामचंद्र गुहा लिखते हैं, ‘भाषाई राज्यों ने देश के संघीय ढांचे को मजबूत ही किया है.’ गांधी को हम अभी पूरी तरह से समझ नहीं पाए हैं. वक़्त लगेगा... पढ़ना पड़ेगा, उनकी तरह जीना पड़ेगा.’

THE CORE IAS

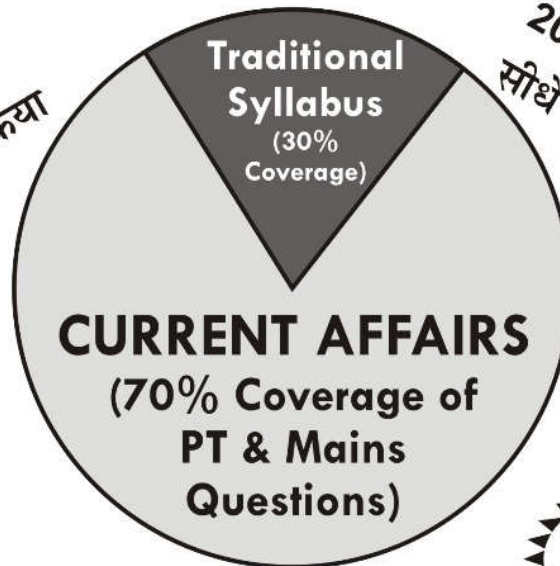
Initiative by GS Hindi

THE HINDU CLASS & EDITORIAL BASED ANSWER WRITING

Both Hindi & English Medium

500+ Questions Coverage from
July 2017 to Sept. 2018

The Core IAS
Class Notes ने
पुनः यह साबित किया



2018 के PT में 40+ प्रश्न
सीधे Class Notes से।

TOPPER'S VIEW

Contact:
8800141518

THE CORE IAS

Initiative by GS Hindi

WEEKEND CURRENT AFFAIRS

Batch - Saturday & Sunday

From 16-17 June (8:00 am - 11:30 am)

.....

FAST TRACK MAINS

ANSWER WRITING PROGRAMME

Daily 10 Editorial Based Question-Answer

From 18 June (Morning & Evening Batch)

.....

FOUNDATION MAINS

ANSWER WRITING PROGRAMME

for Mains 2019

From 18 June - 2 Days / Week (Morning & Evening Batch)

.....

Test Series of G.S & Optional (Geog, History, Hindi, Pol.Sc)

Other Module :

• Environment & Ecology • Society & Social Justice • History • Geog. • Essay

YouTube The Core IAS

Add. : Chamber No. 3, IInd Floor, Batra Complex,
Mukherjee Nagar, Delhi-110009



8800141518

9540297983